भारतीय कृषिः अर्द्ध-सामंती या पूंजीवादी?

प्रणाली विज्ञान संबंधी कुछ बातें

क्रान्ति की मंज़िल का प्रश्न भारतीय क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट आंदोलन के भीतर एक महत्वपूर्ण प्रश्न रहा है। भारतीय क्रान्ति अपनी अन्तर्वस्तु में समाजवादी होगी अथवा नवजनवादी, यह विगत करीब दो दशकों से बहस का मुद्दा रहा है। भारतीय क्रान्ति की मंजिल को समाजवादी मानने वाले संगठन, जिनमें भारत की कम्युनिस्ट लीग (मा. ले.) भी शामिल है, जहाँ भारतीय समाज को मूलतः पूंजीवादी समाज के रूप में निरूपित करते रहे हैं, वहीं क्रान्ति की मंजिल को नवजनवादी मानने वाले संगठनों की नजर में भारतीय समाज व्यवस्था का चरित्र अर्द्ध-सामंती है। चूंकि शहरी इलाकों में पूंजीवाद के विकास पर बहस नहीं रही है, इसलिए बहस के केन्द्र में भारत के ग्रामीण इलाके और वहाँ चल रही आर्थिक व्यवस्था ही रही है।

प्रस्तुत लेख का केन्द्र बिन्दु भारत के ग्रामीण इलाके और उनके विषय में उपरोक्त बहस के विभिन्न पक्ष ही हैं। प्रस्तुत लेख भारत की खेतीहर अर्थव्यवस्था और उसमें मौजूद उत्पादन के संबंधों की समग्रता में जांच करने का दावा नहीं करता। इस प्रश्न पर मौजूद बहस के कई बिन्दु व कई पक्ष हैं। प्रस्तुत लेख इन तमाम बिन्दुओं में से कुछ पर ही टिप्पणियों तक सीमित रहेगा।

इस लेख में हम दो कोणों से अपनी बातें स्पष्ट करने का प्रयास करेंगे — पहला सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से और दूसरा तथ्यात्मक दृष्टिकोण से। अपने क्रान्तिकारी आन्दोलन में सक्रिय विभिन्न क्रान्तिकारी संगठनों के विभिन्न दस्तावेजों के अध्ययन से एक बात हमें बहुत स्पष्ट तौर पर नज़र आती है कि क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट आन्दोलन में पूर्ण सक्रियता और समर्पण के साथ जूझ रहे तमाम बिरादराना संगठन और इन संगठनों के साथ जुड़े तमाम क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट कामरेड सैद्धान्तिक व तथ्यात्मक दोनों ही मामलों कई गलतियों के शिकार हैं। ऐसे ज्यादातर संगठन व कामरेड पहले तो "अर्द्धसामंतवाद - पूंजीवाद" की बहस में कई गलत अवस्थितियां ग्रहण कर लेते हैं और फिर अपनी इन गलत अवस्थितियों की रक्षा करने के प्रयास में तमाम ऐसे तर्क पेश करते हैं जो कि दरअसल सिद्धांतः ही गलत होते हैं।

कई बार यह भी नज़र आता है कि कई साथियों की कृषि में पूंजीवाद के विकास के बारे में समझ ही यांत्रिक है और वे कृषि में भी पूंजीवाद के विकास को उसी प्रकार से होते हुए देखना चाहते हैं जैसा कि उद्योगों में होता है। इस प्रकार की यांत्रिक समझ का न तो ऐतिहासिक सच्चाई के साथ मेल होता है और न ही हमारे शिक्षकों द्वारा दी गई सैद्धान्तिक शिक्षाओं से। अपनी ऐसी गलत समझ को परवान चढ़ाने के लिए ये साथी कई मामलों में गलत विश्लेषण प्रणाली का प्रयोग कर इस नतीजे पर पहुँच जाते हैं कि भारतीय कृषि में पूंजीवाद का विकास नहीं हो रहा है। कृषि-व्यवस्था के कुछ बिन्दुओं के बारे में हम साथियों की इसी गलत समझ व उनके द्वारा प्रयोग की जाने वाली गलत विश्लेषण प्रणाली को लेंगे।

इस लेख में हमारे द्वारा उठाये गए कई बिन्दु हमारे कामरेडों को मार्क्सवादी-लेनिनवादी सिद्धान्तों के धरातल पर बहुत आम व प्राथमिक जानकारी के प्रतीत हो सकते हैं। लेकिन हमारी समझ में आज के दौर में, सैद्धान्तिक व राजनीतिक विभ्रमों और सांगठनिक बिखरावों के दौर में, मार्क्सवाद-लेनिनवाद के प्राथमिक सैद्धान्तिक बिन्दुओं को आत्मसात करना और कस कर पकड़ना जरूरी है। ये ही हमारी थाती हैं और इन्हीं की मजबूत नींव पर हम आज के दौर में समाज व्यवस्था की बारीकियों को समझ सकते हैं और बदली हुई परिस्थितियों के अनुसार रचनात्मक तरीके से मार्क्सवाद-लेनिनवाद को लागू कर सकते हैं। यह आज के दौर में क्रांतिकारी कम्युनिस्ट कार्यभारों को सही तरीके से लागू करने के लिए बहुत ज़रूरी है।

I

सबसे पहले हम जिस प्रश्न पर विचार करेंगे, वह भारत में शहरी व ग्रामीण आबादी की जनसंख्या से संबंधित है। भारत की कुल आबादी का करीब तीन-चौथाई हिस्सा ग्रामीण इलाकों में रहता है। इसी तथ्य की ओर इंगित करके भारत को अर्द्ध-सामंती मानने वाले कई कामरेड हमसे यह प्रश्न करते हैं कि "जब भारत की तीन-चौथाई आबादी गांवों में रहती है, तब आप यह कैसे कह सकते हैं कि भारत में पूंजीवादी व्यवस्था कायम हो चुकी है।" जाहिर है कि ऐसे तर्क पेश करने वाले कामरेड पूंजीवाद के विकास और शहरीकरण की प्रक्रिया को जोड़कर देखते हैं। कहीं न कहीं उनके मस्तिष्क में, भले ही वह अवचेतन में ही क्यों न हो, यह बत घर किये हुए है कि देश में पूंजीवादी व्यवस्था के आधिपत्य जमा लेने के लिए बड़े पैमाने पर शहरीकरण (यानी देश की आबादी के ***बहुलांश*** का शहरों में बसना व काम करना) ***आवश्यक*** है। यदि ऐसा नहीं है तो देश में पूंजीवाद व्यवस्था नहीं है। यानी देश में अभी भी अर्द्ध-सामंती व्यवस्था कायम है।

हमें यह स्वीकारने में कोई गुरेज नहीं है कि किसी भी देश में पूंजीवाद के विकास के साथ-साथ शहरीकरण बढ़ता है। शहरों में उद्योग-धंधों के विकास के कारण जहाँ श्रमिकों की मांग बढ़ती जाती है वहीं कृषि में तकनीकी विकास के कारण मेहनतकश आबादी की ***मांग*** घटती जाती है। पूंजीवादी बड़े उद्यमों के मालों के बाजारों में आ जाने के बाद ग्रामीण इलाकों में मौजूद दस्तकारियां भी बर्बाद होती जाती है। इसके परिणामस्वरूप मेहनतकश आबादी का ग्रामीण क्षेत्रों से शहरी क्षेत्रों को पलायन (migration) बढ़ता जाता है। हमारी नजर में इस प्रश्न पर कोई बहस नहीं है। यह प्रक्रिया तो भारत में चल ही रही है। विशेष रूप से विगत 50 वर्षों में देश कि कुल आबादी में शहरी आबादी का प्रतिशत बढ़ता चला गया है। और वर्तमान में भी यह हो रहा है।

सारणी 1 : शहरीकरण की वृद्धि

वर्ष	1951	1961	1971	1981	1991
कुल आबादी में शहरी आबादी का %	17.3	18.0	19.9	23.3	25.7

[Statistical Outline of India, 2000-2001]

सवाल यह है कि तब समस्या कहाँ है? हमारी नजर में मूलतः समस्या इस जगह है कि पूंजीवादी विकास के साथ-साथ जिस ***बड़े पैमाने पर*** गांवों से शहरों की ओर आबादी के पलायन की कल्पना हमारे साथी करते हैं, क्या वह पूंजीवादी विकास के लिए ***आवश्यक*** है? हम समझते हैं कि ऐसा ***आवश्यक*** नहीं है। यह संभव है कि देश में कृषि में पूंजीवादी विकास हो रहा हो, लेकिन फिर भी ***बड़े पैमाने पर*** गांवों से शहर की ओर पलायन न हो रहा हो। पूंजीवादी विकास, गांवों में बड़े पैमाने पर अतिरिक्त आबादी (overpopulation) को जन्म देता है। कृषि में पूंजीवादी विकास के कारण नई-नई तकनीकों का समावेश कृषि में श्रमिक आबादी की ***मांग*** को न केवल सापेक्षतः (relatively) बल्कि निरपेक्षतः (absolutely) भी घटाता जाता है। लेकिन यह ***आवश्यक*** नहीं है कि गांवों में मौजूद यह समग्र बेशी आबादी शहरों की ओर पलायन कर ही जाय। शहरों की ओर इस ग्रामीण बेशी आबादी का पलायन कई अन्य कारकों पर भी निर्भर करता है जिनमें शहरों में रोज़गार की उपलब्धता की स्थिति, गांवों में गैर-कृषि क्षेत्र के विकास की स्थिति व गांवो से शहरों को आबादी के पलायन के प्रति राजसत्ता के दृष्टिकोण जैसे कारक महत्वपूर्ण हैं।

इस संबंध में हमारे शिक्षक कार्ल मार्क्स लिखते हैं:

> "जैसे ही पूंजीवादी उत्पादन कृषि को अपने अधिकार में लेता है और उसी अनुपात में जिस हद तक वह यह काम करता है, कृषि में श्रमिक आबादी की **मांग** निरपेक्ष रूप से गिर जाती है, इस प्रतिकर्षण को और अधिक आकर्षण से प्रतिपूरित (compensate) किये बिना, जैसे कि गैर कृषि उद्योगों में होता है, कृषि में निवेशित पूंजी का संचय बढ़ता जाता है। इसलिए खेतिहर आबादी का एक हिस्सा शहरी अथवा मैन्यूफैक्चरिंग सर्वहारा में शामिल होने के बिंदु पर खड़ा रहता है.....(मैन्यूफैक्चरिंग का इस्तेमाल यहाँ गैर कृषि उद्योगों के लिए किया गया है)। सापेक्ष बेशी आबादी का यह स्रोत सदैव बहता रहता है। परन्तु शहरों की ओर यह लगातार बहाव देश के भीतर ही लगातार मौजूद गुप्त बेशी आबादी की पूर्व कल्पना पर आधारित है, जिसकी **हद तभी उजागर होती है जब निकासी मार्ग (channel) के द्वार असामान्य चौड़ाई (width) तक खुल जाते हैं। इसलिए खेतिहर मज़दूर न्यूनतम मजदूरी के स्तर पर पहुँचा दिया जाता है,** और जिसका एक पांव सदैव ही दरिद्रता के दलदल में धंसा रहता है।"
>
> (कार्ल मार्क्स, पूंजी खण्ड 1, अंग्रेजी से अनुवाद व जोर हमारा)

कार्ल मार्क्स के उपरोक्त उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि पूंजीवाद के विकास के साथ-साथ कृषि में

श्रमिक आबादी की ***मांग*** घट जाती है। इसके परिणामस्वरूप अस्तित्व में आने वाली बेशी आबादी शहरी क्षेत्र में उद्योग अथवा सेवा क्षेत्र में काम करने के लिए गांवों से शहर को पलायन कर सकती है। लेकिन यही एकमात्र संभावना नहीं है। मार्क्स स्वयं लिखते हैं कि पूंजीवाद द्वारा कृषि में अतिरिक्त आबादी (over population) पैदा हो जाने के कारण "खेतीहर आबादी का एक हिस्सा हमेशा शहरी अथवा मैन्यूफैक्चरिंग सर्वहारा में शामिल होने के कगार पर खड़ा रहता है....।" लेकिन पूंजीवादी विकास द्वारा पैदा की गई यह ग्रामीण अतिरिक्त आबादी शहरी अथवा मैन्यूफैक्चरिंग सर्वहारा की कतारों में शामिल हो ही जाय, यह कोई जरूरी नहीं है। अवसरों के अभाव में यह बेशी आबादी ग्रामीण इलाकों में ही, और वह भी कृषि क्षेत्र में पड़ी रह सकती है। ऐसे में यह अंदाज लगाना भी कठिन हो जाता है कि पूंजीवाद ने किस हद तक, कृषि क्षेत्र में श्रमिकों की मांग को कम करके, ग्रामीण बेशी आबादी को जन्म दिया है। मार्क्स के ही अनुसार "लगातार मौजूद गुप्त बेशी आबादी" की "हद तभी उजागर होती है जब निकासी (channel) के द्वार आसामान्य चौड़ाई तक खुल जाते हैं।" यदि ऐसा नहीं होता और कृषि क्षेत्र की बेशी आबादी को शहरी क्षेत्र में उद्योगों अथवा सेवा क्षेत्र में पलायन (migrate) करके कार्य करने के अवसर नहीं उपलब्ध हो पाते तो वह ***पूरी की पूरी*** ग्रामीण इलाकों से शहरी इलाकों को पलायन नहीं कर पाती। नतीजतन उसका एक हिस्सा तो शहरों को पलायन कर जाता है (जिसकी वजह से शहरी आबादी ग्रामीण आबादी के मुकाबले कहीं तेजी से बढ़ती है) लेकिन दूसरा हिस्सा ग्रामीण इलाकों में ही पड़े रहने को मजबूर रहता है। जाहिर है ग्रामीण इलाकों में भारी पैमाने पर मौजूद बेशी आबादी ग्रामीण इलाकों में ही रोजगार के लिये प्रतियोगिता करती है। इसीलिये मार्क्स को यह इंगित करना पड़ता है कि "खेतीहर मजदूर न्यूनतम मजदूरी के स्तर पर पहुँचा दिया जाता है और जिसका एक पांव सदैव ही दरिद्रता के दलदल में धंसा रहता है"। यानी खेतीहर मजदूर का न्यूनतम स्तर पर पहुँचता जाना और खेतीहर मजदूरों की आबादी का दरिद्रता के दलदल में और गहरे डूबते जाना भी पूंजीवादी विकास का एक पक्ष है, यह भी पूंजीवाद द्वारा कृषि क्षेत्र में पैदा की जा रही बेशी आबादी को ही अभिव्यक्त करता है।

पूंजीवाद द्वारा पैदा की जाने वाली बेशी आबादी के संदर्भ में लेनिन के विचार भी हमें कुछ ऐसी ही शिक्षा देते हैं। लेनिन लिखते हैं:

> "..... जिन भी उद्योगों में पूंजीवाद घुसता है, सभी में — कृषि में और साथ ही साथ उद्योगों में — बेशी आबादी का निर्माण होता है और यह बेशी आबादी विभिन्न रूपों में मौजूद रहती है। इसके तीन मुख्य रूप हैं: (1) *गतिशील (floating) बेशी आबादी।* इस श्रेणी में उद्योगों में मौजूद बेरोजगार मजदूर आते हैं। उद्योग के विकास के साथ ही इनकी संख्या में वृद्धि अवश्यंभावी है। (2) *गुप्त बेशी आबादी।* इस श्रेणी में वह ग्रामीण आबादी आती है जो पूंजीवादी विकास के साथ अपने खेत से हाथ धो बैठे हैं और जो गैर-खेतीहर रोजगार पाने की असमर्थ हैं। यह आबादी किसी भी फैक्टरी के लिये हाथ उपलब्ध कराने को तैयार है। (3) *ठहरी हुई (stagnant) बेशी आबादी।* इस के पास "अत्यधिक अनियमित" रोजगार होता है जोकि औसत स्तर से नीचे होता है। इस श्रेणी में, मुख्यतः मैन्यूफैक्चरर्स के लिए घर पर और स्टोरों मे काम करने वाले लोग आते हैं जिनमें गांव व शहर दोनों के निवासी आते हैं। इन सभी स्तरों के लोगों के कुल योग से *सापेक्ष बेशी आबादी* या *रिजर्व सेना* का निर्माण होता है।"
>
> (व्ला. इ. लेनिन, *Collected Works, Moscow*, खण्ड 2, पृष्ठ 180, इटैलिक्स लेखक के, अनुवाद हमारा)

लेनिन के उपरोक्त उद्धरण से हमारे लिये यह स्पष्ट हो जाता है कि ग्रामीण क्षेत्र में पूंजीवाद द्वारा उत्पन्न की जा रही बेशी आबादी में केवल आबादी का वह हिस्सा ही नहीं आता जो ग्रामीण इलाकों से शहरी इलाकों को पलायन कर जाता है। बल्कि इसके साथ-साथ पूंजीवाद ग्रामीण क्षेत्रों में "गुप्त बेशी आबादी" और "ठहरी हुई (stagnant) बेशी आबादी" के रूप में भी बेशी आबादी को जन्म देता है। शहरों में औद्योगिक क्षेत्र में रोजगार पाने में असमर्थ ग्रामीण आबादी का यह हिस्सा मजबूरी में ग्रामीण इलाकों में पड़ा रहता है।

ग्रामीण इलाकों में पूंजीवाद के अन्तर्गत अस्तित्व में आने वाली बेशी आबादी पर चर्चा करते समय लेनिन ग्रामीण इलाकों से शहरों को पलायन कर जाने वाली आबादी के साथ-साथ बेशी आबादी की उपरोक्त श्रेणियों — "गुप्त बेशी आबादी" और "ठहरी हुई (stagnant) बेशी आबादी" — को शामिल करने तक ही सीमित नहीं रहते। लेनिन इससे भी आगे जाते हैं और सीमान्त व लघु किसानों की उस आबादी को भी पूंजीवादी व्यवस्था की ***बेरोजगारों की रिजर्व सेना*** में शामिल कर लेते हैं जिनके खेतों के छोटे-छोटे टुकड़े उनके लिए मुख्य रोजगार

न बनकर केवल अतिरिक्त (auxiliary) रोजगार ही बन पाते हैं। लेनिन लिखते हैं:

> "दूसरी तरफ "किसानों" का बड़ा हिस्सा, जो इतने छोटे-छोटे (insignificant) भूखण्डों के मालिक हैं कि उनसे जीवन चलाना असंभव है और जो मात्र एक "अतिरिक्त (auxiliary) रोजगार" को ही दिखाते हैं, समग्रता में पूंजीवादी व्यवस्था में *बेरोजगारों की रिजर्व सेना* के एक हिस्से का निर्माण करता है। यह, मार्क्स के शब्दों में, इस सेना का *छुपा हुआ* रूप है। यह कल्पना कर लेना गलत होगा कि बेरोजगारों की यह रिजर्व सेना केवल उन मजदूरों से बनती है जिन्हें काम नहीं मिल पाता। यह उन "किसानों" अथवा "petty farmers" को भी शामिल करती है जो अपने बहुत छोटे फार्म से जो कुछ हासिल करते हैं उतने से ही जिन्दा नहीं रह सकते हैं, जिन्हें अपने निर्वाह के साधनों को हासिल करने के लिए मुख्यतः अपने श्रम को बेचना पड़ता है। उनका किचन गार्डन या आलू उत्पादक भूखण्ड गरीबों की इस सेना के लिये मजदूरी के पूरक का काम करता है या तब जीवित रहने में मदद करता है जब वे बेरोजगार होते हैं। पूंजीवाद को ऐसे "बौने" "खण्ड-खण्ड" छद्म-फार्मों की आवश्यकता होती है ताकि बिना किसी खर्चे के वह *सदैव* बड़े पैमाने पर सस्ते श्रम को अपने लिये तैयार रख सके।
>
> (व्ला. इ. लेनिन, *Collected Works, Moscow*, खण्ड 16, पृष्ठ 435 इटैलिक्स लेखक के अनुवाद हमारा)

आइये, अब उपरोक्त बिखरी हुई बातों को समेटा जाये। यह सही है कि कृषि क्षेत्र में पूंजीवाद के घुसने, और उसी अनुपात में जिस हद तक पूंजीवाद कृषि पर अधिकार कायम करता है, के साथ ही पूंजीवाद कृषि में श्रमिकों की मांग को सापेक्षतः ही नहीं बल्कि निरपेक्षतः भी कम कर देता है। इसके परिणामस्वरूप बड़े पैमाने पर ग्रामीण बेशी आबादी अस्तित्व में आती है। लेकिन इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि ग्रामीण क्षेत्रों में अस्तित्व में आने वाली यह बेशी आबादी समग्र रूप में रोजगार की तलाश में गांवों से शहरों की ओर कूच कर देगी और मुख्यतः ग्रामीण आबादी वाला देश पूंजीवाद के प्रभुत्व के मातहत आने के चन्द वर्षों के भीतर ही मुख्यतः शहरी आबादी वाले देश में बदल जाएगा। ऐसा निष्कर्ष एक गलत निष्कर्ष होगा। दरअसल कृषि में पूंजीवादी विकास के परिणामस्वरूप पैदा होने वाली बेशी आबादी का एक हिस्सा निःसन्देह ग्रामीण क्षेत्रों से पलायन कर शहरों में विकसित हो रहे औद्योगिक क्षेत्र में काम करने चला जाता है। गांवों से शहरों की ओर श्रमिक आबादी का यह पलायन, शहरों में रोजगारों की उपलब्धता और इस पलायन के प्रति पूंजीवादी राजसत्ता के रुख से निर्धारित होता है। जो भी हो, इस पलायन के फलस्वरूप शहरी आबादी में ग्रामीण आबादी के मुकाबले तेजी से वृद्धि होती है। लेकिन यदि किसी भी वजह से ग्रामीण बेशी आबादी में होने वाली वृद्धि के अनुरूप ही शहरों में उपलब्ध रोजगारों में वृद्धि नहीं होती तो ग्रामीण बेशी आबादी का एक हिस्सा गांव से शहर को पलायन नहीं कर सकेगा और गांव में ही दरिद्रता के दलदल में धंसा हुआ पड़ा रहेगा। ग्रामीण क्षेत्रों में दिखाई देने वाले बेरोजगार लोग, बहुत ही अनियमित रोजगार पाने वाले लोग, अपने छोटे-छोटे खेतों (जिनसे जीवनयापन की न्यूनतम जरूरतों का मुख्य हिस्सा भी उपलब्ध नहीं हो पाता है) से चिपके हुए सीमान्त व लघु किसान तथा न्यूनतम मजदूरी पर काम करने वाली खेतीहर मजदूरों की आवश्यकता से अधिक आबादी, ये सभी कृषि में पूंजीवाद के हावी होने की वजह से उत्पन्न ग्रामीण बेशी आबादी के अंग हैं। ये शहरों में काम मिलने पर हाथ उपलब्ध कराने को तैयार हैं और शहरों में भी रोजगार की कमी के कारण गांव में दरिद्रता का जीवन गुजारने को अभिशप्त हैं। इन सभी को मिलाकर कृषि में पूंजीवाद द्वारा पैदा की गई बेरोजगारों की रिज़र्व सेना बनती है। इन सभी को मिलाकर ग्रामीण बेशी आबादी का आंकलन किया जा सकता है। केवल शहरों की ओर पलायन कर जाने वाले हिस्से को नजर में रखने और शेष को नजरअंदाज कर देने से हम आधी-अधूरी सच्चाई ही देख पाएंगे, समग्र सच्चाई नहीं।

अब जरा भारत के बारे में चर्चा करें। भारत में पूंजीवाद के विकास की कुछ विशिष्टताएं रहीं हैं जिनकी वजह से शहरीकरण की प्रक्रिया धीमी रही है। पहली बात तो यह है कि भारतीय पूंजीपति वर्ग अपनी राज्य-व्यवस्था (state) के अस्तित्व में आने के समय (1947 के सत्ता हस्तांतरण के समय) से ही एकाधिकारी चरित्र का (monopolist) रहा है। यह दस्तकारी - मैन्यूफैक्चरिंग - उद्योग के पड़ावों से होकर नहीं गुजरा था। यह उपनिवेशवाद (और बाद में साम्राज्यवाद) के मातहत और उसके अंग के रूप में विकसित हुआ था। इसलिये आजादी के बाद अपनी राजसत्ता स्थापित होने के बाद (और उसके पहले भी) इसने जो उद्योग लगाये, वह सीधे ही ज्यादा पूंजी की मांग करने वाले (capital intensive) उद्योग थे जिनमें श्रम की मांग अपेक्षाकृत कम होती

है। यानी इसने स्थिर पूंजी (constant capital) और परिवर्ती पूंजी (variable capital) के निचले अनुपात वाले उद्योगों से शुरू कर ऊँचे अनुपात वाले उद्योगों में पहुँचने के संक्रमणकालीन दौर से गुजरने के बजाए सीधे ऊँचे अनुपात वाले उद्योगों से शुरूआत की। जाहिर है कि ये उद्योग उतनी श्रम-शक्ति को काम नहीं दे सकते थे, जितना मामान्य तरीके की पूंजीवादी विकास की प्रक्रिया में देते। इस वजह से शहरों में लगे उद्योगों में मजदूरों को रोजगार तो मिला और उसमें आजादी के बाद वृद्धि भी हुई, लेकिन यह अपेक्षाकृत कम ही रहा। इसलिये भारत में समस्या उद्योगों में काम करने वाले मजदूरों की कमी नहीं थी बल्कि गांव से उजड़कर शहरों मे आ रहे मजदूरों के लिये शहरों में रोजगार न होने की थी। विशेष रूप से 1980 के बाद यह समस्या गहरा गई है। बड़े शहरों में भारी पैमाने पर रोजगार की तलाश करने वाले श्रमजीवी वहाँ की झोपड़-पट्टियों में पटे हुए हैं जिन्हें संभालना वहाँ के प्रशासन के लिए एक कठिन कार्य होता जा रहा है। इसलिये भारत के पूंजीवादी राज्य के सामने समस्या उससे ठीक विपरीत है, जैसी कि ब्रिटेन के पूंजीवादी राज्य के समक्ष थी। ब्रिटेन में 19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में उद्योगों में काम करने के लिए हाथों की कमी थी, इसलिये वहाँ राज्य कानून बनाकर व अन्य तरीकों से ग्रामीण मेहनतकशों को गांवों से शहरों की ओर धकेलने का प्रयास करता था और इस क्रम में शहरीकरण की प्रक्रिया में योगदान करता था। यदि वहाँ की राजसत्ता ने ऐसा न किया होता तो शायद उस दौरान वहाँ शहरीकरण की प्रक्रिया इतनी तेज न होती, जितनी कि वह उस समय थी। भारत की राजसत्ता के समक्ष समस्या इसकी ठीक उल्टी रही है। वह शहरों में "गैर जरूरी" आबादी की वृद्धि से "त्रस्त" रही है और यह प्रयास करती रही है कि शहरों के लिये गैर जरूरी आबादी शहरों में न आये और उसे गांव में ही रोक दिया जाय। इसके लिए भारत सरकार गांवों में ही कई प्रकार की रोजगार योजनाएं चलाती रही है, वह बैंकों के द्वारा विभिन्न टुटपुंजिया धंधों के लिये ग्रामीण इलाकों में ऋण बांटने की योजनाएं लेती रही है और कई प्रकार के गरीबी उन्मूलन कार्यक्रमों के तहत घर बनवाने जैसे लालच देकर ग्रामीण इलाकों की अतिरिक्त आबादी को ग्रामीण इलाकों में ही रोकने के प्रयास करती रही है। इस प्रकार, शहरों में औद्योगिक श्रम के रोजगारों की कम उपलब्धता व भारत सरकार की ग्रामीण अतिरिक्त आबादी को ग्रामीण इलाकों में ही रखने की नीति ने शहरीकरण की प्रक्रिया को धीमा किया है।

एक तीसरा कारक भी रहा है, जो कम महत्वपूर्ण नहीं है। यह है ग्रामीण इलाकों में ही गैर-कृषि क्षेत्र का विस्तार। यदि ग्रामीण इलाकों में ही गैर-कृषि क्षेत्रों में महत्वपूर्ण मात्रा में रोजगार विकसित होने लगे तो यह क्षेत्र कृषि क्षेत्र की अतिरिक्त आबादी के एक हिस्से को खपा लेता है। 1990 के दशक के बारे में यह अनुमान लगाया जाता है कि देश के कुल मुख्य कर्मकरों (main workers) में 78 प्रतिशत ग्रामीण इलाकों में कार्यरत हैं। इनमें से 62 प्रतिशत कृषि क्षेत्र में और 16 प्रतिशत गैर-कृषि क्षेत्र में कार्यरत हैं। यदि शहरों में कृषि क्षेत्र में लगे 2 प्रतिशत कर्मकरों को शामिल कर लिया जाय तो भी देश के लिये कुल कर्मकरों में 64 प्रतिशत ही खेती में लगे हुए हैं। (विजय महाजन, थामस फिशर की पुस्तक 'The Forgotten sector' से)। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि ग्रामीण क्षेत्रों में गैर-कृषि क्षेत्र (non-farm sector) भी ग्रामीण अतिरिक्त आबादी के एक महत्वपूर्ण हिस्से को खपा सकता है। यह पूंजीवाद के विकास को तो दर्शाएगा, हालांकि शहरीकरण की प्रक्रिया को यह कारक धीमा करता है।

अब भारत के ग्रामीण इलाकों को मुख्यतः तीन हिस्सों में बांटकर ग्रामीण अतिरिक्त आबादी के प्रश्न को समझा जा सकता है। पहले इलाके तो वे हैं जो पूंजीवादी विकास के मामले में आगे हैं। ऐसे इलाकों में गैर-कृषि क्षेत्र (non-farm sector) का काफी विकास हुआ है। इनमें पंजाब, हरियाणा, महाराष्ट्र, गुजरात जैसे राज्य आते हैं। दूसरे व तीसरे प्रकार के ग्रामीण इलाके वे इलाके हैं जो पूंजीवादी विकास के मामले में पिछड़े हुए हैं। दूसरे प्रकार के इलाके का प्रतिनिधिक उदाहरण बिहार जैसा राज्य है जहाँ ग्रामीण इलाकों में गैर-कृषि क्षेत्र का विकास बहुत कम हुआ है और जहाँ कृषि पिछड़ी होने के साथ-साथ ग्रामीण कर्मकरों को रोजगार देने की स्थिति में नहीं है। इसलिये बिहार से दूसरे राज्यों को पलायन की परिघटना बड़े पैमाने पर देखने को आती है। देश के सभी औद्योगिक केन्द्रों पर बिहार के मजदूरों की अच्छी खासी आबादी मिलती है। तीसरे प्रकार के ग्रामीण इलाके आन्ध्र-प्रदेश जैसे राज्यों हैं जहाँ से न तो बड़े पैमाने पर ग्रामीण आबादी का पलायन दिखाई देता है और न ही

गैर-कृषि क्षेत्र का विकास। यहाँ हमें ग्रामीण अतिरिक्त आबादी दिखाई देती है, दरिद्रता के दलदल में धंसे, बहुत कम मजदूरी पर खेतों में काम करने वाले खेतीहर मजदूरों के रूप में। 1990 के दशक में आंध्र प्रदेश के ग्रामीण इलाकों में खेतीहर मजदूरों की आबादी, कुल कामगारों की आबादी का 50 फीसदी तक बढ़ गई दिखाई देती है। (विजय महाजन, थामस फिशर की पुस्तक 'The Forgotten Sector' से)।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि पूंजीवाद कृषि में अतिरिक्त आबादी को जन्म देता है। पूंजीवाद कृषि में श्रमिक आबादी की *मांग* घटा देता है। शहरीकरण कृषि में श्रमिक आबादी की *घटी* हुई मांग व शहरी उद्योगों में बढ़ी हुई *मांग* का परिणाम होता है। विशेष परिस्थितियों में यह संभव है कि कृषि में पूंजीवाद का विकास ग्रामीण अतिरिक्त आबादी को तो पैदा करे और मात्रा में बढ़ाये, लेकिन इससे शहरीकरण बहुत तेजी से न बढ़ रहा हो।

इसलिये निगमनात्मक तर्क पद्धति (deductive logic) का प्रयोग करते हुए यह कहना कि चूंकि शहरीकरण की प्रक्रिया बहुत धीमी है, इसलिये कृषि में पूंजीवाद का विकास नहीं हो रहा है, गलत तर्क पद्धति होगी, जो गलत निष्कर्षों तक ले जा सकती है।

II

कृषि क्षेत्र में भू-लगान (land rent) का प्रश्न भी हमारे क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट आन्दोलन के कार्यकर्ताओं में कई विभ्रम पैदा करता है। हमारे साथियों ने यह पढ़ रखा है कि सामंती व्यवस्था के केन्द्र में भूमि और उससे होने वाला उत्पादन होता है। इसमें भूमि का मालिकाना सामंत/जमींदार के पास होता है और भूमि पर खेती करने वाले किसानों से अत्यधिक लगान वसूल कर सामंत/जमींदार उसका शोषण करते हैं। इसके विपरीत पूंजीवादी समाज के केन्द्र में पूंजी होती है। पूंजीवादी समाज में कृषि में भूमि के मालिक किसान/फार्मर अपनी जमीन पर स्वयं खेती करते/करवाते हैं और उसमें पूंजी निवेश कर एक पूंजीवादी उद्यम के रूप में उसे संचालित करते हैं जहाँ खेतीहर मजदूर के उजरती श्रम (wage labour) का शोषण होता है।

उपरोक्त तर्क मोटे-तौर पर तो सामंती व पूंजीवादी कृषि के बीच फर्क करने के लिए ठीक है। लेकिन यह मोटी समझदारी ही पूंजीवादी विकास को समझने की दृष्टि पैदा करने के लिए काफी नहीं है। इसके लिये हमें और गहराई में जाकर भूमि-संबंधों के बारे में मार्क्सवादी-लेनिनवादी विचारों की बारीकी को आत्मसात करना होगा। इस मामले में सबसे पहली महत्वपूर्ण बात तो यही है कि कृषि में पूंजीवाद के विकास के लिये किसी विशेष प्रकार के भूमि संबंधों की आवश्यकता नहीं होती और कृषि में प्रवेश करने के साथ ही पूंजी का जिन भी प्रकार के भूमि-संबंधों से सामना होता है, वह सभी को अपने मातहत कर लेती है। यानी भूमि संबंधों के उन सभी रूपों, जो सामंती समाज में मौजूद होते हैं, की मौजूदगी के बावजूद पूंजीवाद कृषि में हावी हो सकता है और केवल उन प्राक्-पूंजीवादी भूमि संबंधों की मौजूदगी को आधार बनाकर यह कहना गलत होगा कि चूंकि ऐसे भूमि संबंध मौजूद हैं, इसलिये कृषि में पूंजीवाद विकसित नहीं हुआ है। इसी प्रकार दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि भूमि लगान की बड़े पैमाने पर मौजूदगी केवल सामंती समाज की ही चारित्रिक विशेषता नहीं है बल्कि पूंजीवादी समाज में भी भूमि लगान का बड़े पैमाने पर प्रचलन होता है। पूंजीवादी समाज का विश्लेषण करते समय कार्ल मार्क्स पूंजीवादी समाज के तीन सबसे महत्वपूर्ण वर्गों में पूंजीपति वर्ग व सर्वहारा वर्ग के साथ-साथ भू-स्वामी वर्ग को भी शामिल करते हैं जो भूमि के लगान पर जिन्दा रहता है। इसीलिये भारतीय समाज को मूलतः अर्द्ध-सामंती समाज के रूप में चित्रित करने वाले एक बिरादर कम्युनिस्ट संगठन के दस्तावेजों में पंजाब के संदर्भ में लिखा जाता है कि "किसानों से भारी पैमाने पर भू-लगान वसूली जा रही है", तब हमें लगता है कि पूरी बात नहीं की जा रही है। हम इन कामरेडों से यह भी अपेक्षा करते हैं कि वे यह भी विश्लेषण करें कि इस वसूली जा रही लगान का चरित्र क्या है? यह सामंती चरित्र की है अथवा पूंजीवादी चरित्र की।

आइये! एक-एक करके इस मामले से जुड़े विभिन्न पक्षों पर विचार करें। सबसे पहले कृषि में पूंजीवाद के विकास और भूमि के मालिकाने के सवाल पर। जैसा कि हम पहले ही कह आये हैं कि कृषि में पूंजीवादी विकास के लिये किसी विशेष प्रकार का भू-स्वामित्व (भूमि पर मालिकाना) जरूरी शर्त नहीं होता। पूंजीवादी विकास के लिये यह तो जरूरी नहीं ही है कि भूमि पर खेती करने वाले किसान/फार्मर भूमि के मालिक हों ही,

बल्कि इससे भी आगे बढ़ सैद्धान्तिक धरातल पर हम यह भी कह सकते हैं कि पूंजीवादी विकास के लिये भूमि का निजी संपत्ति होना भी कोई आवश्यक शर्त नहीं हैं इस मामले में लेनिन लिखते हैं:

"पूंजीवादी समाज व्यवस्था के अन्तर्गत, भूमि की सीमितता भूमि पर एकाधिकार की पूर्वकल्पना अवश्य करती है *लेकिन ऐसा वह अर्थव्यवस्था के विषय (object) के रूप में करती है, संपत्ति अधिकार के विषय (object) के रूप में नहीं।* **कृषि के पूंजीवादी संगठन की कल्पना में निश्चित रूप से यह कल्पना शामिल है कि समग्र भूमि अलग-अलग निजी उद्यमों के कब्जे में है *लेकिन इसमें यह कल्पना किसी भी तरह शामिल नहीं है कि समग्र भूमि उन सभी पार्सलों,* अथवा दूसरे शब्दों की निजी संपत्ति है अथवा यह आवश्यकतः निजी संपत्ति है।** संपत्ति अधिकार पर आधारित भू-मालिकाने का एकाधिकार और भू-अर्थव्यवस्था का एकाधिकार, केवल तार्किक रूप से ही नहीं बल्कि ऐतिहासिक रूप से भी, दो बिल्कुल भिन्न चीजें हैं। तार्किक रूप से, हम बहुत आसानी से एक कृषि के शुद्ध पूंजीवादी संगठन की कल्पना कर सकते हैं जिसमें भूमि में निजी मालिकाना पूर्णतः अनुपस्थित हो, जिसमें भूमि राज्य की अथवा ग्राम कम्यून वगैरह की संपत्ति हो। वास्तविक व्यवहार में हम पाते हैं कि सभी विकसित पूंजीवादी देशों में समग्र भूमि अलग-अलग, निजी उद्यमों के कब्जे में है; लेकिन ये उद्यम न केवल अपनी स्वयं की भूमि का बल्कि दूसरे भूस्वामियों से, राज्य से या ग्राम कम्यून से लगान पर ली गई भूमि का भी उपयोग करते हैं (उदाहरणार्थ, रूस में, जहाँ, जैसा कि अच्छी तरह से ज्ञात है, किसान सामूहिक भूमि (peasant communal lands) पर स्थापित निजी उद्यम मुख्यतः पूंजीवादी उद्यम हैं)। **मार्क्स ने लगान के अपने विश्लेषण के बिल्कुल शुरू में ही अकारण ही यह टिप्पणी नहीं की थी कि अपने पहले चरण में पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली बहुत भिन्न प्रकार की भू-संपत्ति - गेंस (dan) संपत्ति और सामंती भू-संपत्ति से लेकर किसान (peasant) कम्यून की संपत्ति तक - का सामना करती है (और उसे अपने अधीन कर लेती है)।**

(लेनिन, *Collected Works, Moscow*, खण्ड 5, पृष्ठ 120 इटैलिक्स लेखक के, अनुवाद और जोर हमारा)

उपरोक्त उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि लेनिन के अनुसार भूमि के सीमित होने के नाते कृषि में पूंजीवादी विकास के अन्तर्गत समग्र भूमि पर पूंजीवादी उत्पादन हावी हो जाता है, यानी भूमि पर पूंजीवादी उत्पादन का एकाधिकार हो जाता है। लेकिन इस एकाधिकार को किसी विशेष प्रकार के भू-मालिकाने के एकाधिकार से गड्ड-मड्ड करना ठीक नहीं होगा। लेनिन के अनुसार कृषि में पूंजीवाद के हावी होने के लिए यह कतई आवश्यक नहीं है कि भूमि पर पूंजीवादी खेती करने वले फार्मर, अपने उद्यम के लिये प्रयोग में लाई जाने वाली भूमि के मालिक भी हों। बल्कि पूंजीवाद के लिये तो भूमि का निजी मालिकाने में होना भी कोई आवश्यक बात नहीं है। राज्य की भूमि, ग्राम कम्यून की भूमि अथवा दूसरे भू-स्वामियों के निजी मालिकाने की भूमि, किसी भी प्रकार की भू-संपत्ति की व्यवस्था के रहते लगान (rent) अथवा गिरवी (mortgage) की प्रथा के आधार पर भूमि हासिल करके पूंजीवादी कृषि उद्यम चल सकते हैं और विकसित हो सकते हैं। बल्कि विकसित पूंजीवादी व्यवस्था का तो यह चरित्र ही होता है कि भूमि मालिकाने को भूमि पर कृषि से अलग कर दिया जाता है। यूरोप के कई देशों की चर्चा करते हुए लेनिन कहते हैं:

"हम इंग्लैण्ड की बात नहीं करेंगे, जहाँ भू-मालिकाने का भूमि पर कृषि से अलगाव स्पष्ट है, जहाँ फार्मरों के बीच मुक्त प्रतियोगिता लगभग असीमित है, जहाँ व्यापार और उद्योग से प्राप्त की गई पूंजी कृषि में व्यापक स्तर पर निवेशित होती थी और है। लेकिन शेष सभी पूंजीवादी देशों में (.....) भू-मालिकाने के भूमि पर कृषि से अलगाव की *बिल्कुल वही प्रक्रिया* एक वास्तविकता है, हालांकि ऐसा अत्यधिक भिन्न रूपों (leases, mortgages) में हो रहा है।

..... भू-दासता की समाप्ति के बाद, सभी यूरोपीय देशों में सामाजिक एस्टेट (social estate) पर आधारित भू-मालिकाने के क्षरण, भू-संपत्ति के एकत्रीकरण (mobilisation), कृषि में औद्योगिक और व्यापारी पूंजी का निवेश, किरायेदारी कृषि (tenant farming) में वृद्धि और भूमि की गिरवी (mortgage) में वृद्धि को देखते हैं।

(लेनिन, *Collected Works, Moscow*, खण्ड 5, पृष्ठ 122-123 इटैलिक्स लेखक के, अनुवाद हमारा)

हम यह स्पष्ट करने का प्रयास कर रहे हैं कि भारतीय कृषि में मौजूद उत्पादन प्रणाली के अर्द्ध-सामंती अथवा पूंजीवादी होने पर विचार करते समय अगर यह कहा जाए कि भू-स्वामियों द्वारा वास्तविक खेतीहरों से लगान वसूली जा रही है, अतः कृषि में अर्द्ध-सामंती उत्पादन प्रणाली चल रही है, तो यह गलत तर्क पद्धति होगी। भू-लगान एक ऐसी चीज है जो केवल सामंतवाद का ही चरित्र नहीं है बल्कि यह पूंजीवाद में भी दिखाई देती है। भू-लगान पूंजीवाद में भी न केवल मौजूद रहती है बल्कि कृषि में पूंजीवादी विकास व पूंजी के क्रमशः निवेश के साथ बढ़ती जाती है। पूंजीवाद के रहते भू-लगान को समाप्त नहीं किया जा सकता। भू-लगान खेती में पूंजीवाद का अभिन्न अंग है।

इस प्रकार भू-लगान पूंजीवादी समाज में भी वसूली जाती है और सामंती/अर्द्ध-सामंती समाज में भी। इसलिये केवल भू-लगान की मौजूदगी या भू-लगान की दरों का ऊँचे स्तर पर होने से समाज के अर्द्ध-सामंती अथवा पूंजीवादी होने के बारे में कोई निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता है। इसके लिये हमें कृषि की समग्र स्थिति व समग्रता में कृषि में उत्पादन संबंधों पर गहराई से विचार करना होगा। हमें देखना होगा कि भू-स्वामी व किरायेदार के बीच संबंध शोषक-शोषित का संबंध (जैसा कि सामंती भू-स्वामी व किसान के बीच होता है जिसमें किसान सीधे-सीधे सामंती भू-स्वामी से शोषित होता है अथवा जैसाकि पूंजीवादी और गरीब किसान के बीच होता है जहाँ गरीब किसान शोषित तो है लेकिन सीधे-सीधे भू-स्वामी से नहीं बल्कि समग्रता में पूंजीवादी व्यवस्था से शोषित है) है अथवा शोषक-शोषक का संबंध (जैसा कि पूंजीवादी भू-स्वामी व पूंजीवादी फार्मर/धनी किसान के बीच होता है)। साथ ही हमें अन्य कारकों पर भी ध्यान देना होगा- जैसे उत्पादन उपभोग के लिये हो रहा है या बाजार के लिये, भू-स्वामी व किरायेदार के बीच गैर-आर्थिक दबाव के संबंध हैं या नहीं, खेती में किरायेदार पूंजी निवेश करता है या नहीं, किरायेदार उजरती श्रम का शोषण करता है या नहीं। ऐसे ही अन्य सवालों को समग्रता में समझकर यह कहा जा सकता है कि यहाँ लगान/किराया (rent) वसूलने वाले भू-स्वामी अर्द्ध-सामंती चरित्र के हैं अथवा पूंजीवादी चरित्र के।

पूंजीवादी समाज में भू-लगान देश में कृषि योग्य भूमि के सीमित होने से जन्म लेती है। देश में कृषि योग्य भूमि का सीमित होना भूमि पर दो प्रकार के एकाधिकार (monopoly) को जन्म देता है। इनमें से पहला है भूमि पर पूंजीवादी अर्थव्यवस्था का एकाधिकार और दूसरा है भूमि पर निजी मालिकाने का एकाधिकार। पहले प्रकार का एकाधिकार - भूमि पर पूंजीवादी अर्थव्यवस्था का एकाधिकार - *विभेदी लगान* (differential rent) को जन्म देता है तो दूसरे प्रकार का एकाधिकार - भूमि पर निजी मालिकाने का एकाधिकार - *निरपेक्ष लगान* (absolute rent) को। उपरोक्त दोनों लगानों को मिलाकर ही पूंजीवाद में भू-लगान का निर्माण होता है। जब तक पूंजीवाद है, भूमि पर पूंजीवादी अर्थव्यवस्था का एकाधिकार खत्म नहीं होगा। इसलिए पूंजीवाद के बने रहते हुए भूमि पर विभेदी लगान खत्म नहीं हो सकती। वह पूंजीवाद के रहने तक अस्तित्व में रहेगी। दूसरी तरफ पूंजीवाद में क्योंकि सामान्यतः भूमि पर निजी मालिकाने का एकाधिकार रहता है, इसलिये निरपेक्ष लगान भी मौजूद रहती है। लेकिन भूमि पर निजी मालिकाना, पूंजीवाद की शर्त नहीं है। पूंजीवाद के रहते हुए ही भूमि पर निजी मालिकाना खत्म किया जा सकता है। भूमि का राष्ट्रीयकरण (nationalisation) करके पूंजीवाद के भीतर ही क्योंकि भूमि पर निजी मालिकाने की व्यवस्था का एकाधिकार खत्म किया जा सकता है, इसलिये निरपेक्ष लगान (absolute rent) को पूंजीवाद में ही समाप्त किया जा सकता है। लेकिन भू-लगान पूर्णतः खत्म नहीं होगी क्योंकि विभेदी लगान (differential rent) तो तब भी बनी रहेगी। बहरहाल चाहे केवल विभेदी लगान (differential rent) रहे अथवा विभेदी व निरपेक्ष, दोनों प्रकार की लगान अस्तित्व में रहें, यह लगान भूमि के मालिक - भू स्वामी - के कब्ज़े में चली जाती है। और वास्तव में खेती करने/करवाने वाले किसानों को अपने पूंजी निवेश पर औसत मुनाफा - विभिन्न क्षेत्रों के बीच प्रतियोगिता के फलस्वरूप स्थापित होने वाला औसत मुनाफा - ही हासिल हो पाता है। जैसे-जैसे कृषि में और अधिक पूंजी निवेश होता जाता है और कृषि का विकास नई ऊँचाईयों पर पहुँचता जाता है, प्रति एकड़ के साथ-साथ कुल मात्रा में भी लगान बढ़ती जाती है। इसलिये भू-लगान की मौजूदगी और उसकी दर व कुल मात्रा में वृद्धि कोई अर्द्ध-सामंती चरित्र नहीं है, यह पूंजीवाद में भी बखूबी होता है। मार्क्स, एंगेल्स व लेनिन ने अपने लेखों-पुस्तकों में एकाधिक बार यही बातें जोर देकर कही हैं।

"भू-लगान अतिरिक्त मूल्य का वह हिस्सा है जो निवेशित पूंजी पर औसत मुनाफा काट लेने के बाद बच जाता है। भू-सम्पत्ति पर एकाधिकार भूस्वामी को इस अतिरिक्त मूल्य को हड़प लेने के योग्य बनाता है, और भूमि की कीमत (= पूंजीकृत लगान) लगान को उस स्तर पर *बनाये रखती* है जहाँ यह एक बार पहुँच जाती है।"

(व्ला. इ. लेनिन, *Collected Works, Moscow*, खण्ड 4, पृष्ठ 146 इटैलिक्स लेखक के, अनुवाद हमारा)

"वैयक्तिक उत्पादन की कीमत (price of production) और उत्पादन की उच्चतम् कीमत का अन्तर ही विभेदी लगान है। (हम अपने पाठकों को याद दिला दें कि उत्पादन की कीमत से मार्क्स का तात्पर्य उत्पाद के उत्पादन पर खर्च की गई पूंजी और उस पूंजी पर औसत मुनाफे के योग से है।)

पूंजीवादी कृषि में विभेदी लगान अवश्य जन्म लेती है भले ही भूमि पर निजी मालिकाना खत्म क्यों न कर दिया जाय। भूमि के निजी मालिकाने के अन्तर्गत यह लगान भू-स्वामी द्वारा हड़प ली जाती है क्योंकि पूंजियों के बीच प्रतियोगिता किरायेदार किसान को बाध्य करती है कि वह पूंजी पर औसत मुनाफे से संतुष्ट रहे। जब भूमि पर निजी मालिकाने का अन्त कर दिया जाता है, तब यह लगान राज्य को मिलने लगती है। जब तक पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली अस्तित्व में है, *लगान समाप्त नहीं की जा सकती।*

"निरपेक्ष लगान भूमि पर निजी मालिकाने से पैदा होती है।...

"इस प्रकार विभेदी लगान पूंजीवादी कृषि के हर रूप में अवश्यम्भावी तरीके से शामिल चारित्रिक गुण है। निरपेक्ष लगान ऐसी नहीं है; यह भूमि के निजी मालिकाने के अन्तर्गत उत्पन्न होती है,....."

(लेनिन, *Collected Works, Moscow*, खण्ड 13, पृष्ठ 297-300, इटैलिक्स लेखक के, अनुवाद हमारा)

"विभेदी लगान मालिकाने के अधिकार के आधार पर भू-स्वामी द्वारा किसान (farmer) से वसूली जायगी। चूंकि विभेदी लगान पूंजी पर सामान्य, औसत मुनाफे के अतिरिक्त और उससे ऊपर का अतिरिक्त मुनाफा है, और चूंकि खेती में स्वतंत्र पूंजी निवेश के अभिप्राय में स्वतंत्र प्रतियोगिता मौजूद है (पूंजीवादी विकास द्वारा पैदा की जा रही है), भू-स्वामी एक ऐसा किसान (farmer) ढूंढ लेने में सक्षम होगा जो औसत मुनाफे से संतुष्ट रहे और जो अतिरिक्त मुनाफा उसे सौंप देगा। भूमि में निजी संपत्ति विभेदी लगान को जन्म नहीं देती; वह केवल उसे किसान (farmer) के हाथों से भू-स्वामी के हाथों में स्थानान्तरित कर देती है। क्या निजी भू-सम्पत्ति का असर इतने तक सीमित है? क्या हम यह कल्पना कर सकते हैं कि सबसे खराब और सबसे असुविधाजनक जगह स्थित भूमि, जो पूंजी पर केवल औसत मुनाफा देती है, को उसका भू-स्वामी किसान को *बेदाम* ही उपयोग में लाने देगा? स्वाभाविक ही है, नहीं। भू-स्वामित्व एक एकाधिकार है और इस एकाधिकार के बल पर भू-स्वामी इस भूमि के लिये भी किसान से भुगतान मांग लेता है। यह भुगतान निरपेक्ष लगान (absolute rent) होगा, जिसका विभिन्न पूंजी निवेशों की उत्पादकता में अन्तर से कोई संबंध नहीं होता, और जिसकी *उत्पत्ति भूमि के निजी मालिकाने से होती है।*

"..... हम वास्तव में दोहरे एकाधिकार की चर्चा कर रहे हैं। पहले स्थान पर हमारे समक्ष है भूमि अर्थव्यवस्था (पूंजीवादी) का एकाधिकार। यह एकाधिकार भूमि की सीमितता के कारण जन्म लेता है, और इसलिये किसी भी पूंजीवादी समाज में अवश्यम्भावी है। *यह* एकाधिकार सबसे खराब भूमि पर उत्पादन की स्थिति के आधार पर अनाज की कीमत तय करने की ओर ले जाता है; बेहतर भूमि पर पूंजी निवेश के जरिये अथवा ज्यादा उत्पादक पूंजी निवेश के जरिये हासिल किया गया अतिरिक्त मुनाफा (surplus profit) विभेदी लगान का निर्माण करता है। यह लगान भूमि में निजी संपत्ति से बिल्कुल स्वतंत्र अस्तित्व में आ जाती है, भूमि में निजी संपत्ति केवल भू-स्वामी को इसे किसान (farmer) से हासिल कर लेने योग्य बनाती है। दूसरे स्थान पर, हमारे समक्ष भूमि पर निजी स्वामित्व का एकाधिकार है। न तो तार्किक रूप से और न ही ऐतिहासिक रूप से, यह एकाधिकार पहले वाले एकाधिकार से अटूट जुड़ा हुआ है। इस एकाधिकार में ऐसा कुछ नहीं है जो पूंजीवादी समाज के लिये और कृषि के पूंजीवादी संगठन के लिये *आवश्यक* हो। .....हम बहुत आसानी से भूमि में निजी संपत्ति के बिना पूंजीवादी कृषि की कल्पना कर सकते हैं।

(लेनिन, *Collected Works, Moscow*, खण्ड 5, पृष्ठ 124-126, इटैलिक्स लेखक के, अनुवाद हमारा)

"मार्क्स के विभेदी लगान के सिद्धान्त की मुख्य प्रस्थापनाओं को संक्षेप में रखने के बाद, एंगेल्स इस नियम को स्थापित करते हैं कि **'किसी देश में भूमि में पूंजी का जितना अधिक निवेश होता जाता है, और कृषि का तथा सामान्य रूप से सभ्यता का जितना उच्च स्तर का विकास होता जाता है, प्रति एकड़ के साथ-साथ लगान की कुल मात्रा बढ़ती जाती है, और अतिरिक्त मुनाफे (surplus profit) के रूप में समाज द्वारा बड़े भू-स्वामियों को अदा किया जाने वाला उपहार (tribute) उतना ही बड़ा होता जाता है'** (कार्ल मार्क्स, पूंजी, खण्ड-3)। यह नियम, एंगेल्स कहते हैं, 'बड़े भू-स्वामी वर्ग की चमत्कारिक जीवन-शक्ति' की व्याख्या करता है, जो भारी मात्रा में कर्जे एकत्र कर लेते हैं लेकिन फिर भी सभी संकटों में "अपने पैरों पर खड़े रहते हैं"; उदाहरण के लिए, इंग्लैण्ड में अनाज कानून (corn law) के खात्मे ने, जिसने अनाज के दामों में गिरावट ला दी थी, भू-स्वामियों को बर्बाद करने की जगह उन्हें अत्यधिक अमीर बना दिया था।"

(व्ला. इ. लेनिन, *Collected Works, Moscow*, खण्ड 3, पृष्ठ 328, अनुवाद व जोर हमारा)

अभी तक हम कृषि में भूमि-काश्तकारी व्यवस्था (land tenure system) और पूंजीवाद के विकास के संबंध के विषय में चर्चा कर रहे थे और इसके सैद्धान्तिक पक्षों को स्पष्टता के साथ समझने का प्रयास कर रहे थे। हम यही स्थापित करना चाहते थे कि किसी विशेष प्रकार की भूमि काश्तकारी व्यवस्था की मौजूदगी मात्र से पूंजीवाद की मौजूदगी का खण्डन नहीं हो जाता। दरअसल पूंजीवाद अपने अविर्भाव के साथ ही विभिन्न प्रकार के प्राक्-पूंजीवादी भूमि-संबंधों का सामना करता है और उन्हें अपने मातहत कर लेता है, यही पूंजीवाद के विकास की ऐतिहासिक सच्चाई है। हम पुनः कहना चाहेंगे कि ये बातें हमें कुछ ज्यादा ही विस्तार में इसीलिये

करनी पड़ी, क्योंकि इन मामलों में हमारे आन्दोलन में कुछ ज्यादा ही गलतफहमी मौजूद है।

अब, आईये, देखें कि भारत में मौजूद भूमि काश्तकारी व्यवस्था के बारे में आंकड़े क्या कहते हैं। यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि हमारे देश में कोई ऐसा सर्वेक्षण मौजूद नहीं है जो देश भर के सभी परिवारों, व जोतों के बारे में जानकारी देता हो। इसलिये हम अपने विश्लेषण में राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण संगठन (National Sample Survey Organisation) की रिपोर्टों पर निर्भर करेंगे। इन रिपोर्टों में प्रस्तुत आंकड़े एक अनुमान होते हैं जिनका आंकलन देश भर से एकत्र किये गए नमूना सर्वेक्षणों पर आधारित होता है। स्वाभाविक है कि वास्तविक आकड़े, इन अनुमानों से थोड़ा भिन्न हों। लेकिन, फिर भी, इन अनुमानों से देश के ग्रामीण इलाकों मे हो रहे परिवर्तनों की प्रवृत्ति (trend) को अवश्य चिह्नित किया जा सकता है।

सारणी 2 : 1991 में भूमि काश्तकारी (land tenure) की स्थिति के महत्वपूर्ण सूचक (ग्रामीण भारत)

1. किरायेदार जोतों (tenant holdings) की संख्या (करोड़ में)	1.027 (10.99 प्रतिशत)
2. किराये पर लिया गया कुल प्रचालित क्षेत्रफल (करोड़ हेक्टेयर में)	1.036 (8.28 प्रतिशत)

नोटः 1. 'किरायेदार जोत' का अर्थ है वह प्रचालित जोत जिसमें पूर्णतः या अंशतः लीज़ पर लिया गया क्षेत्र है।
2. कोष्ठक में दिये गए आंकड़े कुल जोतों की संख्या अथवा कुल प्रचालित क्षेत्रफल में प्रतिशत को दर्शाते हैं।

[स्रोतः NSS, 48th round, Report No. 407]

1991 में ग्रामीण भारत में कुल करीब 9.3 करोड़ प्रचालित भू-जोतें थीं, जिनका कुल क्षेत्रफल करीब 12.5 करोड़ हेक्टेयर था। इनमें से मात्र 1.027 करोड़ जोतें किरायेदार जोतें थीं, जिनका कुल क्षेत्रफल 1.036 करोड़ हेक्टेयर था। इसका अर्थ यह हुआ कि कुल जोतों में से किरायेदार जोतों की संख्या मात्र 10.99 प्रतिशत थी और कुल क्षेत्रफल में से किरायेदार जोतों का क्षेत्रफल मात्र 8.28 प्रतिशत था (देखें, सारणी-2)। आज भी हमारे जो साथी भारतीय कृषि को अर्द्ध-सामंती साबित करने के किए बटाईदारी (share-cropping) की बड़े पैमाने पर मौजूदगी और लगान की मार्फत जमींदारों द्वारा किसानों के बड़े पैमाने पर शोषण की बातें करते हैं, उन्हें इस तथ्य पर गौर करना चाहिए। ऐसे साथी 1950 से 1980 के बीच कृषि-व्यवस्था में आए उन परिवर्तनों को नजरअंदाज कर देते हैं जिसके तहत भूमि के स्वामियों द्वारा स्वयं खेती करने (personal cultivation) की प्रवृत्ति ही भारतीय कृषि की मुख्य प्रवृत्ति बन चुकी है। सारणी-3 से यही बात पुष्ट होती है।

सारणी 3 : पारिवारिक स्वामित्व भू-जोत (household ownership holding) की विभिन्न श्रेणियों के लिए पारिवारिक प्रचालित भू-जोत (household operational holding) के आधार पर परिवारों (household) का प्रतिशत वितरण (ग्रामीण भारत का आंकलन)

स्वामित्व भू-जोत की श्रेणियां (हेक्टेयर)	प्रतिशत पारिवार जिनकी प्रचालित भू जोत है					
	शून्य	निचली श्रेणी में	उसी श्रेणी में	ऊपरी श्रेणी में	सभी	स्वामित्व भू-जोत के अनुसार परिवारों का प्रतिशत वितरण
0.002 से कम	77.6	–	–	22.4	100.0	11.2
0.002-0.20	35.6	–	53.1	11.2	"	31.2
0.21-0.50	4.2	4.8	75.6	15.4	"	14.9
0.51-1.00	3.9	3.8	79.5	12.8	"	14.6
1.01-2.00	2.4	5.7	82.1	9.9	"	13.6
2.01-4.00	2.6	7.7	82.8	6.9	"	9.3
4.01-10.00	1.6	7.9	87.1	3.4	"	4.5
10.00 और ऊपर	0.5	9.4	90.0	–	"	0.9

[स्रोतः NSS, Report No. 399 as given in Report No. 408]

इस सारणी में प्रस्तुत अनुमान इस मिथक को खण्डित कर देते हैं कि बड़े भूस्वामी स्वयं खेती नहीं करते और अपनी भूमि सीमान्त व लघु किसानों को किराये पर चढ़ाकर भूमि के लगान/किराये पर ही जीवन गुजारते हैं। यहां हम स्पष्ट देख सकते हैं कि बड़े भू-स्वामियों (10 हेक्टेयर से ज्यादा) की बड़ी संख्या (90 प्रतिशत) स्वयं ही इतनी बड़ी जोत का प्रचालन करती है कि वे बड़ी प्रचालित भू-जोतों की ही श्रेणी में ही बने रहते हैं। [इन बड़े भूस्वामी परिवारों में मात्र 0.5 प्रतिशत ही ऐसे हैं जो कि जोत का प्रचालन नहीं करते। शेष बचे 9.4 प्रतिशत बड़े भू-स्वामी अपनी भूमि के इतने हिस्से का ही प्रचालन करते हैं कि वे प्रचालित जोत वर्गीकरण (opeational holding classificaton) में निचली श्रेणी में पहुँच जाते हैं। वैसे भी सभी भू-स्वामित्व श्रेणियों में बड़ी बहुसंख्या का प्रचालन भू-जोत के वर्गीकरण में भी उसी श्रेणी में बने रहना स्वयं खेती करने की प्रवृत्ति को दर्शाता है। बेशक भूमि को किराये पर लेने-देने का काम होता है, लेकिन स्वयं खेती करने के मुकाबले यह काफी निचले स्तर पर होता है।

सारणी एक और महत्वपूर्ण परिघटना की ओर ध्यान खींचती है। वह यह है कि सीमान्त किसानों (1.0 हेक्टेयर से कम भूमि रखने वाले) की भी एक अल्पसंख्या ही (बहुसंख्या नहीं, जैसा कि सामान्यतः कहा जाता है) भूमि लीज़ (किराये) पर लेकर अपने स्वामित्व से बड़ी जोत पर खेती करती है। भू-स्वामित्व के आधार पर यदि वर्गीकरण करें तो हम पाते हैं कि कुल स्वामित्व भू-जोतों में सीमान्त भू-जोतों (1.00 हेक्टेयर से कम) की संख्या 71.9 प्रतिशत है जिनमें से केवल 10.2 प्रतिशत सीमान्त भू-स्वामी ही भूमि को किराये पर लेकर स्वामित्व श्रेणी से ऊपर की श्रेणी में जोत प्रचालन करते हैं जबकि 20.9 प्रतिशत तो ऐसे हैं जो कोई जोत प्रचालन नहीं करते। यानी सीमान्त भू-स्वामियों में किराये पर भूमि लेकर खेती करने वालों के मुकाबले किसानी न करने वालों की संख्या ज्यादा है। किसानी न करने वाले 20.9 प्रतिशत सीमान्त भूस्वामी परिवारों के बारे में ज्यादा संभावना यही है कि ये मजदूरों में तब्दील हो गए हैं — खेतीहर मजदूरों, गैर-खेतीहर ग्रामीण मजदूरों अथवा शहरी मजदूरों की श्रेणियों में शामिल हो गए हैं। इनकी छोटी जोतें या तो खेती के लिये उपयुक्त नहीं हैं अथवा उन्हें ये दूसरों को किराये पर दे देते हैं। सीमान्त भू-स्वामियों का 54.8 प्रतिशत हिस्सा (कुल भू-स्वामी परिवारों का 39.4 प्रतिशत) लगभग उतनी बड़ी जोत पर ही खेती करता है जितनी का वह स्वयं स्वामी है। यानी ये भूमि किराये पर नहीं लेते। चूंकि इनकी अत्यधिक छोटी जोत पर इन परिवारों की जरूरत भर को उत्पादन नहीं हो सकता ओर ये किराये पर भूमि भी नहीं लेते, तब इनके बारे में यह कहा जा सकता है कि ये श्रम-बाजार में अपना श्रम बेचकर अपना काम चलाते होंगे। यानी इन 54.8 प्रतिशत सीमान्त भू-स्वामियों के बड़े हिस्से को अर्द्ध-सर्वहारा कहना उचित होगा क्योंकि इनकी आमदनी का एक हिस्सा इनकी श्रम-शक्ति की बिक्री से आता है। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि सीमान्त भूस्वामी किसानों की विशाल बहुसंख्या का शोषण भूमि-किराये (land rent) की वसूली के जरिये नहीं बल्कि अन्य तरीकों से होता है। उजरती श्रम के रूप में शोषण इनमें से एक महत्वपूर्ण तरीका है जिसके जरिये ऐसे सीमान्त भूस्वामी किसानों का शोषण होता है।

सारणी 4: 1991-92 में 'किरायेदार जोतों' ओर लीज़ पर लिये गए क्षेत्रफल का प्रचालित भू-जोत की श्रेणी के अनुसार प्रतिशत (ग्रामीण भारत)

प्रचालित भू-जोतों की श्रेणियां (हेक्टेयर में)	किरायेदार जोतों का %	लीज़ पर लिये गए क्षेत्रफल का %	लीज़ पर लिये कुल क्षेत्रफल का प्रतिशत वितरण
सीमान्त (1.0 हे. से कम)	9.3	8.7	16.3
लघु (1.0 - 2.0)	14.9	8.53	19.3
अर्द्ध-मध्यम (2.0 - 4.0)	12.2	7.41	21.6
मध्यम (4.0 - 10.0)	13.1	6.90	22.0
बड़ी (10.0 से ज्यादा)	16.7	11.37	20.9
सभी श्रेणियां	11.0	4.28	100.00 .

[स्रोत : NSS Report No. 407]

सारणी 4, जिसमें प्रचालन भू-जोतों के आकार के अनुसार श्रेणियां दी गई हैं, से कुछ और बातें स्पष्ट होती हैं। पहली तो यही कि छोटी प्रचालन जोतों के मुकाबले बड़ी प्रचालन जोतों में किराये पर भूमि लेने की प्रवृत्ति ज्यादा होती है। 1991 में सीमान्त प्रचालन जोतों में से जहां केवल 9.3% *किरायेदार जोतें* होती थी, वहीं बड़ी प्रचलित जोतों में से 16.7% जोतें *किरायेदार जोतें* थी। इसी प्रकार सीमान्त प्रचालन जोतों की श्रेणी में जहाँ औसतन 8.7% क्षेत्रफल लीज़ पर ली गई जमीन का था, वहीं बड़ी प्रचालन जोतों की श्रेणी में औसतन 11. 37% क्षेत्रफल लीज़ पर ली गई जमीन का था। इसी प्रकार लीज़ पर दी गई कुल भूमि का 16.3 प्रतिशत जहाँ सीमान्त प्रचालित जोतों में शामिल था, वहीं 20.9 प्रतिशत बड़ी प्रचालित भू-जोतों में शामिल था। यानि लीज़ पर दी गई भूमि का बड़ा हिस्सा बड़ी प्रचालित भू-जोतों के पास था, सीमान्त प्रचालित भू-जोतों के पास नहीं। यानी बड़ी प्रचालित भू-जोतों के पास भी बड़ी मात्रा में लीज़ पर ली गई भूमि है। यह एक महत्वपूर्ण बात है क्योंकि इससे इस धारणा का खंडन हो जाता है कि किराये/लीज़ पर खेती की जमीन के लेन-देन का अर्थ केवल बड़े भू-स्वामियों द्वारा छोटे किरायेदार किसान का किराये के मार्फत शोषण ही होता है। यहाँ हम देख रहे हैं कि मध्यम व बड़ी भू-जोतों के प्रचालक भी अच्छी-खासी मात्रा में (सीमान्त व लघु भू-जोत प्रचालकों से यह मात्रा कम नहीं, बल्कि ज्यादा ही है) किराये/लीज़ पर भूमि ले रहे हैं जहाँ किसी किस्म के अर्द्ध-सामंती शोषण का प्रश्न ही नहीं उठता। मध्यम अथवा बड़ी जोतों के प्रचालकों को जब भूमि लीज़/किराये पर दी जाती है तो वहां भला किसी किस्म का अर्द्ध-सामंती शोषण कैसे हो सकता है? और यह प्रवृत्ति हालांकि अभी प्रभुत्वशाली स्थिति में नहीं पहुँची है, लेकिन इसमें वृद्धि अवश्य होती जा रही है और वृद्धि की प्रक्रिया भारतीय कृषि व्यवस्था में ऐसे महत्वपूर्ण परिवर्तनों की ओर इशारा कर रही है जिन परिवर्तनों को नजरअंदाज करने की नहीं, गौर से समझने और विश्लेषित करने की जरूरत है। सबसे पहले सारिणी 5 के अनुमानों को लें। यहां हम देखते हैं 1960-61 से 1980-81 के बीच के दो दशकों में सभी श्रेणियों में किरायेदार जोतों का प्रतिशत घटता गया है। 1960-61 के 23.5% के मुकाबले 1980-81 में 15.2% जोते ही किरायेदार जोतें थी। किराये पर भूमि लेने की इस घटती हुई प्रवृत्ति के पीछे भारत की स्वतंत्रता के बाद अस्तित्व में आई पूंजीवादी राज-सत्ता द्वारा "भूमि सुधारों" के तहत 1950-1980 के बीच बनाये गये कानूनों के कारण कृषि व्यवस्था में आये परिवर्तन थे। अपने चरित्र में ये कानून क्रान्तिकारी भूमि सुधार के कानून नहीं थे। [एक झटके में क्रान्तिकारी तरीके से सामंती भूस्वामी वर्ग को उखाड़कर भूमि को स्वयं खेती करने वाले किसानों के बीच वितरित करने वाला मार्ग न होकर यह धीमे-धीमे सुधारों के जरिये कृषि में पूंजीवाद के विकास का मार्ग था। यह सामंती भूस्वामियों को बनाये रखते हुए उन्हें पूंजीवादी भूस्वामियों में तब्दील करने का मार्ग था। लेनिन ने इसी प्रकार सुधारों के जरिये कृषि में पूंजीवाद के विकास को 'प्रशियाई मार्ग' की संज्ञा दी थी।] चूंकि ये भूमि सुधार क्रान्तिकारी नहीं थे, इसलिए क्रान्तिकारी भूमि सुधार की अपेक्षा रखने वाले हमारे क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट आन्दोलन के साथियों ने इनके प्रभावों को नजरअंदाज कर दिया। यह दुर्भाग्यपूर्ण है। क्रान्तिकारी परिवर्तनों का पक्षधर होना और इनके लिए

सारणी 5: 1960-61 से 1990-91 तक प्रचलित जोतों की श्रेणियों के अनुसार किरायेदार जोतों का प्रतिशत (ग्रामीण भारत)

प्रचालित भू-जोतों की श्रेणियां (हेक्टेयर में)	किरायेदार जोतों का प्रतिशत			
	60-61	70-71	80-81	90-91
सीमान्त (1.0 हे0 से कम)	24.1	27.0	14.4	9.3
लघु (1.0 से 2.0)	25.1	27.8	17.9	14.9
अर्द्ध-मध्यम (2.0 से 4.0)	23.6	24.8	15.9	12.2
मध्यम (4.0 से 10.0)	20.5	20.0	14.5	13.1
बड़ी (10.0 से ज्यादा)	19.5	15.9	11.5	16.7
सभी श्रेणियां	23.5	25.7	15.2	11.0

[स्रोत : NSS Report No. 407]

सारणी 6: प्रचालित जोतों की श्रेणियों के अनुसार लीज़ पर लिये गए क्षेत्रफल के प्रतिशत में परिवर्तन (ग्रामीण भारत)

प्रचालित भू-जोतों की श्रेणियां (हेक्टेयर में)	लीज़ पर लिये क्षेत्रफल का प्रतिशत			
	60-61	70-71	80-81	90-91
सीमान्त (1.0 से कम)	16.6	18.9	9.7	8.7
लघु (1.0 - 2.0)	14.0	14.6	8.5	8.5
अर्द्ध-मध्यम (2.0 - 4.0)	11.7	11.7	7.3	7.4
मध्यम (4.0 - 10.0)	9.6	8.7	6.6	6.9
बड़ी (10.0 से ज्यादा)	8.3	5.9	5.3	11.4
सभी श्रेणियां	10.7	10.6	7.2	8.3

[स्रोत : NSS Report No. 407]

संघर्षरत होना बिलकुल ठीक बात है, लेकिन यदि क्रान्तिकारी परिवर्तन नहीं हो पा रहे हों तो गैर-क्रान्तिकारी परिवर्तनों के कारण बदल रही वस्तुगत परिस्थितियों को नजरअंदाज़ करना और इन परिवर्तनों का विश्लेषण कर उसके हिसाब से नई रणनीति न बनाना, कोई ऐसा व्यवहार नहीं है जिसकी क्रान्तिकारियों से अपेक्षा की जाती है।

आइये अपने विषय की ओर लौटें। हम चर्चा कर रहे थे कि सारिणी 5 के अनुमानों के मुताबिक 1960-61 से 1980-81 तक कुल प्रचालित जोतों में किरायेदार जोतों की संख्या सभी श्रेणियों में घटती गई थी। 1981 के बाद इस प्रवृत्ति में एक गौर तलब परिवर्तन आता है। और ये परिवर्तन है ***विपरीत किरायेदारी* (reverse tenancy) की बढ़ती प्रवृत्ति** का अस्तित्व में आना। सारिणी में यह स्पष्ट रूप से प्रदर्शित हो रही है। 1980-81 के बाद भी जहाँ सीमान्त से मध्यम प्रचालित जोतों में *किरायेदार जोतों* का प्रतिशत घटता गया है वहीं बड़ी जोतों में *किरायेदार जोतों* का प्रतिशत काफी बढ़ गया है। यानी बड़ी प्रचालित जोतों में किराये/लीज़ पर भूमि लेने का रूझान स्पष्टतः बढ़ रहा है। यही बात सारिणी 6 के अनुमानों में भी दिखाई दे रही है। इसके अनुसार 1960-61 से 1980-81 तक घटने के बाद बड़ी प्रचालित जोतों में लीज़ पर ली गई भूमि का प्रतिशत 1980-81 से 1990-91 के बीच दो गुना हो गया है, जो 1980-81 में 5.3% से बढ़कर 11.4% तक जा पहुँचा है। इसी बात को राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण की रिपोर्ट में यूं दर्ज किया गया है।

> "वर्तमान सर्वेक्षण किरायेदारी (tenancy) की घटनाओं (incidence) में कमी होने प्रवृत्ति, जो 1960-61 और 1980-81 की बीच प्रकट हो रहा था, में उल्लेख प्रदर्शित करता है। कुल *'लीज़ पर लिया प्रचालित क्षेत्रफल'* (leased in operated area), जो 1960-61 में 1.4 करोड़ हेक्टेयर से 1980-81 में 90 लाख हेक्टेयर तक घट गया था, 1980 के दशक में 1.05 करोड़ हेक्टेयर तक बढ़ गया।
>
> कुल *लीज़ पर लिये गए प्रचालित क्षेत्रफल* में वृद्धि ज्यादातर बड़ी भू-जोतों में लीज़ पर लिये क्षेत्रफल में वृद्धि की वजह से हुई है। इसके साथ-साथ *निश्चित किराये* (fixed rent) के तहत किरायेदारी में, प्रतिशत हिस्से व कुल *लीज़ पर लिये गये क्षेत्रफल* दोनों मामलों में, महत्वपूर्ण वृद्धि हुई है। हालांकि बटाईदारी (share cropping) के तहत क्षेत्रफल 1980 के दशक में स्थिर बना रहा है।"
>
> ("भारत में प्रचालन भू-जोत, 1991-92: प्रमुख विशेषताएं', भू एवं पशुधन जोत सर्वेक्षण, रिपोर्ट संख्या 407, 48वां दौर, राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण संगठन, अनुवाद हमारा)

यानि अब किराये पर जमीन लेने वाले का सीमान्त/लघु जोत प्रचालक होने के बजाय मध्यम/बड़ी जोत प्रचालक होने की प्रवृत्ति बढ़ रही है। बड़ी स्वामित्व भू-जोत के छोटी-छोटी प्रचालक भू-जोत में बांट कर उपयोग में लाये जाने की प्रवृत्ति की जगह धीरे-धीरे बड़ी प्रचालक भू-जोतों के निर्माण की प्रवृत्ति बढ़ रही है। यह स्पष्टतः कृषि में उत्पादन के संकेंद्रण की ओर इशारा करती हुई प्रवृत्ति है। कृषि में भूमि के संकेंद्रण को पूंजीवादी विकास की पहचान के रूप में खोजने वाले साथियों को इस प्रवृत्ति को गहराई में समझना और उसका विश्लेषण करना चाहिए।

III

अगला महत्वपूर्ण बिन्दु जिस पर हम चर्चा करना चाहते हैं, वह है पूंजीवाद में कृषि की गहनता (intensification) और खेतों के क्षेत्रफल (acreage) के आकार का प्रश्न। यह सामान्य मार्क्सवादी समझदारी की बात है कि पूंजीवादी विकास के आगे बढ़ने के साथ-साथ बड़े पैमाने का उत्पादन, छोटे-पैमाने के उत्पादन को विस्थापित करता है। इससे किसी का मतभेद नहीं हो सकता। हमारे देश के क्रांतिकारी कम्युनिस्ट आन्दोलन में भारतीय समाज को अर्द्ध-सामंती के रूप में चिह्नित करने वाले कामरेड इसी सूत्र को आधार बनाकर यह साबित करने का प्रयास करते हैं कि भारतीय कृषि में, पूंजीवादी विकास नहीं हो रहा है। लेकिन इसके लिये इन कामरेडों द्वारा जो प्रणाली उपयोग में लाई जाती है वही दोषपूर्ण होती है। और उसके आधार पर कृषि में पूंजीवादी विकास, उसके स्तर और उसकी हद का सही-सही अंदाज नहीं लगाया जा सकता है। भारतीय कृषि को अर्द्ध-सामंती मानने वाले हमारे ये क्रान्तिकारी साथी जहां एक तरफ कृषि में बढ़ रही गहनता (intensification) को, और उसके कारण लगातार उत्पादन के बड़े हो रहे पैमाने को नजरअंदाज कर देते हैं वहीं ये साथी क्षेत्रफल के आधार पर जोतों के वर्गीकरण की प्रणाली का इस्तेमाल करते हुए यह दिखाने का प्रयास करते हैं कि बड़े क्षेत्रफल वाली जोतों की संख्या व उनके अन्तर्गत आने वाली कुल भूमि की मात्रा के साथ-साथ समग्र कृषि योग्य भूमि में बड़ी जोतों का प्रतिशत हिस्सा बढ़ नहीं रहा है वरन् घट रहा है। तात्पर्य यह कि बड़े पैमाने की खेती छोटे पैमाने की खेती को विस्थापित नहीं कर रही है जो कि पूंजीवादी विकास का चारित्रिक गुण है। इस प्रकार, इस आधार पर हमारे ऐसे साथियों को भारतीय कृषि में पूंजीवादी विकास नजर नहीं आता।

ऐसे साथियों से हमारा कहना है कि समस्या देश में पूंजीवाद के विकास न होने की नहीं, बल्कि विश्लेषण की आप की प्रणाली में है। कृषि में पूंजीवादी विकास की कई विशिष्टताएं होती हैं और कृषि में पूंजीवाद ठीक उसी तरह विकसित नहीं होता जिस तरह से यह औद्योगिक क्षेत्र में विकसित होता है। कृषि में बड़े पैमाने का उत्पादन ठीक उसी प्रकार से छोटे-पैमाने के उत्पादन को विस्थापित नहीं करता, जिस प्रकार से औद्योगिक क्षेत्र में करता है। इसलिये कृषि में पूंजीवादी विकास का अध्ययन करते समय हमें उसकी विशिष्टताओं को ध्यान में रखना होगा और केवल क्षेत्रफल के आधार पर जोतों के वर्गीकरण द्वारा हम इन विशिष्टताओं को ध्यान में नहीं रख सकते। इस सम्बन्ध में लेनिन लिखते हैं:

> ".....मार्क्स की *पूंजी* को याद करें। इसमें आपको भूमि स्वामित्व के उन अत्यधिक विभिन्नताओं वाले रूपों, जैसे सामंती, clan, communal (and primitive-squatter), राज्य, वगैरह के जिक्र मिलेंगे जिनसे पूंजीवाद का सामना होता है जब वह ऐतिहासिक मंच पर आ उपस्थित होता है। पूंजी भू-स्वामित्व के इन सभी रूपों को अपने मातहत कर लेती है और इन्हें अपने अनुसार पुनः ढालती है, और यदि किसी को सांख्यिकीय संदर्भों में इस प्रक्रिया को समझना, इसका मूल्यांकन करना तथा इसे अभिव्यक्त करना है तो उसे इस प्रक्रिया के बदलते *रूपों* के अनुसार अपने प्रश्नों के सूत्रीकरण और जांच की प्रणाली को सुधारना (modify) अवश्य सीखना चाहिए। पूंजीवाद भू-स्वामित्व के इन सभी रूपों को अपने मातहत कर लेता है: रूस में communal&allotment holdings; किसी जनवादी अथवा सामंती राज्य में मुफ्त वितरण से नियमित (regulated) squatter tracts अथवा जोतें, जैसे कि साइबेरिया अथवा सुदूर पश्चिमी अमरीका में; दक्षिणी अमरीका में गुलाम रखने वाली रियासतों (estates) में, और "शुद्धतः रूसी" राज्यों की अर्द्ध-सामंती भू-जोतें। इन सभी मामलों में, पूंजीवाद का विकास और विजय मिलती जुलती है, हालांकि इसके रूप एक जैसे नहीं हैं। **इस प्रक्रिया के निश्चित चरित्र का अध्ययन करने और समझने के लिये "पारिवारिक खेती" की विसेपिटे पेटी-बुर्जुआ मुखबरों अथवा *केवल क्षेत्रफल (acreage) की तुलना करने की दैनन्दिन प्रणाली* से आगे अवश्य जाना चाहिए।**
>
> (लेनिन, *Collected Works, Moscow*, खण्ड 22, पृष्ठ 59, इटैलिक्स मूल में, अनुवाद व जोर हमारा)

लेनिन ने ऊपर बहुत स्पष्टता के साथ बताया है कि कृषि में आविर्भाव के साथ ही पूंजीवाद कितने विभिन्न प्रकार के रूपों वाले भू-स्वामित्व का सामना कर अपने अधीन ले आता है और इस प्रक्रिया के अध्ययन और समझदारी के लिये केवल क्षेत्रफल (acreage) के आधार पर जोतों का वर्गीकरण अपर्याप्त है और हमें उससे आगे जाना चाहिये।

दरअसल, केवल क्षेत्रफल के आधार पर वर्गीकरण कृषि में गहनता (intensification), जो कि कृषि में

पूंजीवादी विकास की लाक्षणिकता है, को परिप्रेक्ष्य में रखने में असफल हो जाता है और कृषि में पूंजीवादी विकास की अतिसरलीकृत व अपर्याप्त तस्वीर पेश करता है। अमरीका की कृषि व्यवस्था पर विचार करते हुए लेनिन लिखते हैं:

"खेतों को क्षेत्रफल, कुल अथवा सुधारे हुए, के आधार पर वर्गीकृत करना ही वर्गीकरण का वह एकमात्र तरीका है जिसे 1910 के अमरीकी सर्वेक्षण रिपोर्टों में इस्तेमाल किया गया है, और जो यूरोपीय देशों की बहुसंख्या में इस्तेमाल किया जाता है।

..... यह स्पष्टतः अपर्याप्त है क्योंकि यह कृषि की गहनता को, पशुधन, मशीन, सुधारे गये बीजों, फसल बुवाई के बेहतर तरीकों वगैरह के रूप में क्षेत्रफल की प्रति इकाई पर बढ़ते हुए पूंजी के खर्च को, मद्देनजर रखने में पूर्णतः असफल हो जाता है। जबकि आदिम अथवा शुद्धतः विस्तृत (extensive) खेती वाले कुछ बहुत थोड़े से इलाकों या देशों के अपवादों को छोड़कर, यही वह प्रक्रिया है जो सभी जगहों के पूंजीवादी देशें के लिये सबसे ज्यादा लाक्षणिक है। इसी कारण से **खेतों का क्षेत्रफल के अनुसार वर्गीकरण मामलों की बहुत बड़ी बहुसंख्या में सामान्यतः कृषि के विकास की और विशेषतः कृषि में पूंजीवादी विकास की अतिसरलीकृत और अत्यन्त अपर्याप्त साक्ष्य उपलब्ध कराता है।"**

(व्ला.इ. लेनिन, *Collected Works, Moscow*, खण्ड 22, पृष्ठ 58, अनुवाद व जोर हमारा)

बहुत स्पष्ट है कि केवल क्षेत्रफल (acreage) के आधार पर जोतों का वर्गीकरण पूंजीवादी विकास का सही चित्र पेश नहीं करता क्योंकि वह कृषि की गहनता (intensification) को नजरअंदाज कर देता है। यहीं लेनिन की उपरोक्त उद्धरण में ही कही गई एक और महत्वपूर्ण बात को हमें नहीं भूलना चाहिए कि कृषि की गहनता (intensification) ही सभी जगहों के पूंजीवाद के विकास के लिये सबसे ज्यादा लाक्षणिक है। शुद्धतः विस्तृत (extensive) कृषि वाले इलाके अथवा देशों मे पूंजीवाद का विकास, जहाँ क्षेत्रफल (acreage) में वृद्धि पूंजीवादी विकास की लाक्षणिकता होती है और जहाँ क्षेत्रफल के आधार पर वर्गीकरण सही चित्र पेश कर सकता है, विश्व में अपवाद है, नियम नहीं। भारत जैसे भारी आबादी वाले, घने बसे हुए व पुरानी सभ्यता वाले (यानी यह इलाका हजारों वर्षों से बसा हुआ है) देश में, जहाँ नई बस्तियां बसाने के लिये अक्षत (virgin) इलाके नहीं बचे हैं, निश्चित रूप से कृषि में पूंजीवाद विकास, मुख्यतः कृषि की गहनता में क्रमशः वृद्धि के जरिए हो सकता है। केवल कृषि योग्य इलाके के क्षेत्रफल के विस्तार के जरिये नहीं।

भारतीय कृषि में पूंजीवादी विकास को नकारने के प्रयास में हमारे जो क्रान्तिकारी कामरेड बड़ी भू-जोतों के औसत आकार के छोटा होते जाने (हालांकि यह कमी बहुत मामूली (marginal) है) के सांख्यिकीय आंकड़े पेश करते हैं या जो कामरेड यह तर्क देते हैं कि भारत में बड़ी भू-जोतें भी छोटे आकर की हैं और इतने छोटे क्षेत्रफल की भू-जोतों में पूंजीवाद विकसित ही नहीं हो सकता, ऐसे साथियों से हमारा अनुरोध है कि कृषि में पूंजीवाद के विकास के बारे में वे अपनी उपरोक्त सैद्धान्तिक अवस्थितियों को दुरुस्त करें, ये अवस्थितियां कतई ठीक नहीं हैं। एक तरफ जहाँ कृषि में पूंजीवाद के विकास के कारण कृषि में गहनता (intensification) बढ़ती है, वहीं जोतों के क्षेत्रफल में कमी आना भी संभव है। यह कृषि में पूंजीवादी विकास के दौर व अन्य परिस्थितियों पर निर्भर करता है। यानी पूंजीवाद के तहत ही कुछ परिस्थितियों में खेतों के क्षेत्रफल में कमी के साथ-साथ पूंजीवादी विकास आगे बढ़ता है तो कुछ परिस्थितियों में पूंजीवादी विकास के साथ-साथ जोतों के क्षेत्रफल में वृद्धि जुड़ी हो सकती है। जहां तक भारत का प्रश्न है, जोतों के क्षेत्रफल में आई कमी संयुक्त परिवारों के टूटने के कारण जोतों के बंटवारे का परिचायक है, पूंजीवादी विकास के संदर्भ में किसी प्रतिगामी (retrograte) प्रवृत्ति का नहीं। वहीं दूसरी ओर छोटे क्षेत्रफल (acreage) की जोतों पर गहन (intensive) कृषि के जरिये न केवल पूंजीवादी विकास बखूबी संभव है बल्कि यह बड़े क्षेत्रफल की जोतों पर विस्तृत (extensive) कृषि के मुकाबले अपने चरित्र में कहीं ज्यादा पूंजीवादी है। उपरोक्त दोनों मामलों में हम पुनः लेनिन को उद्धृत करना चाहेंगे। अमरीकी कृषि के संबंध लिखते हुए लेनिन टिप्पणी करते है:

"पश्चिमी उत्तरी केन्द्रीय डिवीजन को, जहां जोतों का क्षेत्रफल अधिकतम है (1910 में **औसत क्षेत्रफल 148** एकड़, केवल सुधारी गई (improved) भूमि को लेने पर) और जहाँ 1850 से ही खेतों के क्षेत्रफलों में सबसे तीव्र व लगातार बढ़ोत्तरी हुई है, सामान्यतः अमरीकी कृषि के "मॉडल" पूंजीवादी इलाके के रूप में लिया जाता है। अब हम देख चुके हैं कि यह बात गंभीर रूप से गलत है। **भाड़े के मजदूर का किस हद तक प्रयोग किया जा रहा है, यह कृषि**

में पूंजीवाद का सबसे अच्छा और सबसे प्रत्यक्ष सूचक है और यह बताता है कि अमरीकी का "चन्द्रमार", कृषिविज्ञानी "गेहूँ पैकिट्रयों" का इलाका जितने बहुत ध्यान आकर्षित किया है, उस औद्योगिक और गहन खेती के इलाके से *कम* पूंजीवादी है, जहां कृषि के विकास का सूचक सुधारे गए क्षेत्रफल में वृद्धि नहीं बल्कि भूमि में पूंजी निवेशों में वृद्धि के साथ-साथ क्षेत्रफल में *कमी* है।

(लेनिन, *Collected Works, Moscow*, खण्ड 22, पृष्ठ 46, इटैलिक्स मूल में, अनुवाद व जोर हमारा)

".... न्यू इंग्लैन्ड डिवीजन, जहाँ नई बस्तियां नहीं बस रही हैं, जहाँ खेत सबसे छोटे हैं, जहाँ कृषि सबसे गहन (intensive) है, कृषि में उच्चतम स्तर के पूंजीवाद और पूंजीवादी विकास का उच्चतम दर प्रदर्शित करता है। यह निष्कर्ष कृषि में पूंजीवादी विकास की प्रक्रिया को सामान्य तौर पर समझने के लिये सबसे जरूरी और बुनियादी है, क्योंकि कृषि की गहनता और उसके साथ-साथ खेतों के क्षेत्रफल में आने वाली कमी कोई आकस्मिक, स्थानीय, कभी-कभी घटने वाली परिघटना नहीं है, बल्कि ऐसी परिघटना है जो सभी सभ्य देशों के लिये एक *समान* (common) है।

(लेनिन, *Collected Works, Moscow*, खण्ड 22, पृष्ठ 47-48, इटैलिक्स मूल में, अनुवाद व जोर हमारा)

"इसलिये, वास्तविक व्यवहार में ऐसे उदाहरण हैं जहाँ फार्मों के क्षेत्रफल में काफी *कमी* अपने साथ में कृत्रिम खाद पर खर्च में काफी (substantial) *वृद्धि* को लिये होती है, जिसके कारण "छोटा" उत्पादन - यदि हम, परिघटी के अनुसार, क्षेत्रफल में छोटे होने के कारण ऐसा कहना जारी रखें - दरअसल भूमि में पूंजी निवेश के संदर्भ में "विशाल" पाया जाता है। यह एक अपवाद नहीं है, बल्कि किसी भी उस देश के लिए नियम है जहाँ *विस्तृत* (extensive) कृषि की जगह *गहन* (intensive) कृषि ले रही है और यह *सभी* पूंजीवादी देशों पर लागू होता है, तभी तो जब कृषि के विशिष्ट, आवश्यक व मूलभूत चरित्र को भुला दिया जाता है, परिणाम होती है छोटे-पैमाने की खेती के प्रवक्ताओं की वह सामान्य भूल जो अपने निर्णयों को केवल खेतों के क्षेत्रफल पर आधारित करते हैं।

(लेनिन, *Collected Works, Moscow*, खण्ड 22, पृष्ठ 42-43, इटैलिक्स मूल में, अनुवाद व जोर हमारा)

"....बहुत सारे बुर्जुआ अर्थशास्त्री, वास्तव में लगभग सभी, जब कृषि में छोटे और बड़े पैमाने मे उत्पादन की बात करते हैं, तब वे इस "छोटी सी बात" (कृषि का तीव्रीकरण, intensification of agriculture) को भूल जाने का उपाय करते हैं, हालांकि 'सिद्धान्तों में' वे सभी कृषि की गहनता के बारे में "जानते" हैं और उसे स्वीकार करते हैं। यह बुर्जुआ (नरोदनिक व अवसरवादियों को शामिल करते हुए) अर्थशास्त्र द्वारा छोटे "पारिवारिक" फार्मों के प्रश्न पर किये जाने दुस्साहस का निश्चित ही एक मूल स्रोत है। जो "छोटी बात" वे भूल जाते हैं, वह है: **कृषि की तकनीकी विशिष्टताओं के कारण, गहनता की प्रक्रिया बहुधा फार्म के सुधारे हुए एकड़ों (improved acreage) में कमी की ओर ले जाती है, और इसी समय में इसके *उत्पादन* को बढ़ाकर *इसे एक आर्थिक इकाई* के रूप में विस्तारित करती है, और इसे और अधिक *पूंजीवादी* उद्यम बनाती है।**

(लेनिन, *Collected Works, Moscow*, खण्ड 22, पृष्ठ 38, इटैलिक्स मूल में, अनुवाद व जोर हमारा)

"पूंजीवाद केवल विस्तृत (extensive) क्षेत्रों में बड़े क्षेत्रफल वाले खेतों के विकास को त्वरित करके ही विकसित नहीं होता है, बल्कि गहन (intensive) क्षेत्रों में छोटे टुकड़ों पर उन उद्यामों को पैदा करके भी विकसित होता है जिनका कारोबार (operation) बहुत बड़े पैमाने का है और जो कहीं अधिक पूंजीवादी हैं।"

(व्ला.इ. लेनिन, *Collected Works, Moscow*, खण्ड 22, पृष्ठ 102, अनुवाद व जोर हमारा)

उपरोक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि कृषि में पूंजीवादी विकास व इस विकास के स्तर का परिचायक भू-जोतों (land holdings) के क्षेत्रफल (acreage) में वृद्धि नहीं बल्कि कृषि की गहनता (intensification) है। (कृषि की गहनता (intensification) को पशुधन, मशीन, यंत्रों व बीजों में सुधार, खेती के बेहतर तरीकों के रूप में प्रति एकड़ पर बढ़ते हुए पूंजी के खर्च से समझा जा सकता है)। कृषि की गहनता के साथ-साथ भाड़े के मजदूर का बढ़ता प्रयोग भी कृषि में पूंजीवादी विकास का प्रमुख, बल्कि प्रमुखतम, लक्षण है जिस पर चर्चा हम यहाँ नहीं, अन्यत्र करेंगे। लेनिन बुर्जुआ अर्थशास्त्रियों (नरोदनिकों व अवसरवादियों को शामिल करते हुए) पर कृषि की गहनता को नजरअंदाज कर केवल क्षेत्रफल के आधार पर भू-जोतों का वर्गीकरण करते हुए पूंजीवादी समाज में वर्गीय अन्तर्विरोधों की भोथरी तस्वीर पेश करने का आरोप लगाते हैं, लेकिन यह दुर्भाग्यपूर्ण ही कहा जाएगा कि यही प्रवृत्ति हमारे देश के वर्तमान क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट आन्दोलन में भी प्रबल दिखाई देती है। निश्चित ही यह गलत है और इसे ठीक किये जाने की आवश्यकता है। इसी प्रकार बड़ी भू-जोतों के क्षेत्रफल में आने वाली कमी की ओर इंगित कर यह कहना कि पूंजीवादी विकास नहीं हो रहा है, गलत है। तर्क की निगमनात्मक पद्धति (deductive logic) हमेशा सही निष्कर्षों तक नहीं पहुँचाती। जोतों के क्षेत्रफल में कमी का अर्थ पूंजीवादी

विकास न होना नहीं होता। संयुक्त परिवारों के टूटने के परिणामस्वरूप भी जोतों का आकार छोटा हो सकता है, और पूंजीवादी विकास के साथ-साथ यह प्रक्रिया भी संभव है। कृषि में पूंजीवादी विकास के साथ-साथ जहाँ गहनता (intensification) बढ़ती जाती है, वहीं भू-जोतों के क्षेत्रफल में कमी आना संभव है, यह लेनिन के उपरोक्त उद्धरणों से काफी स्पष्ट है।

दरअसल, पूंजीवादी कृषि में अपनी भू-जोतों का क्षेत्रफल बढ़ाकर ही कोई उद्यम बड़े पैमाने का नहीं बनता। यह कृषि में पूंजीवादी विकास की आम प्रक्रिया नहीं है इसके विपरीत, भू-जोतों का क्षेत्रफल छोटा रहते हुए भी कृषि की गहनता को बढ़ाकर—पशुधन का विकास, अधिक खादों का प्रयोग, मशीन का उत्तरोत्तर बढ़ता उपयोग वगैरह—पूंजीवादी कृषि के उद्यम बड़े पैमाने के उद्यम में तब्दील होते हैं। यह प्रक्रिया केवल क्षेत्रफल के आधार पर भू-जोतों के वर्गीकरण में स्पष्ट नहीं हो पाती। तभी तो हमारे साथी लोग, जो केवल क्षेत्रफल के आधार भू-जोतों के वर्गीकरण का अपने विश्लेषण के लिये उपयोग करते हैं, इस प्रकार के गलत नतीजों पर पहुंच जाते हैं कि भारतीय कृषि में पूंजीवाद का विकास नहीं हो रहा है क्योंकि भू-जोतों का आकार बढ़ने क साथ-साथ कृषि की गहनता घटती है। इस संदर्भ में लेनिन लिखते हैं:

> "पूंजीवादी कृषि की प्रवृत्ति है *छोटे पैमाने* के उद्यम को, क्षेत्रफल के मामले में *जो छोटा बना रहता है*, उत्पादन (output), पशुधन पालन के विकास, खादों की मात्रा, मशीन के प्रयोग के पैमाने और इसी तरह की अन्य बातों के मामले में *विशाल-पैमाने* में तब्दील कर देना।
>
> **इसीलिए क्षेत्रफल के आधार पर उद्यमों की विभिन्न श्रेणियों की तुलना से निकाला गया निष्कर्ष – कि उद्यम आकार बढ़ने के साथ कृषि की गहनता घटती जाती है – बिलकुल गलत है। इसके ठीक विपरीत, एकमात्र सही निष्कर्ष विभिन्न खेतों (farms) की उनके उत्पाद के मूल्य के आधार पर तुलना करके निकाला जा सकता है – कि उद्यम जितना ही बड़ा है, कृषि की गहनता उतनी ही ज्यादा है।**
>
> खेतों का क्षेत्रफल कृषि कारोबार (operation) के पैमाने का केवल परिस्थितिगत (circumstantial) प्रमाण है और कृषि की गहनता जितनी ही अधिक व्यापक और अधिक तीव्र होगी, यह "प्रमाण" उतना ही कम विश्वसनीय होगा। किसी उद्यम के उत्पाद का मूल्य उसके कारोबार के पैमाने का अप्रत्यक्ष नहीं बल्कि प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। छोटे पैमाने की खेती का अर्थ हमेशा उससे होता है जो भाड़े के श्रम पर आधारित *नहीं* है। लेकिन भाड़े के श्रम के शोषण की ओर संक्रमण अपनी पुरानी तकनीक पर आधारित उद्यम के क्षेत्रफल के विस्तार पर ही निर्भर नहीं करता – ऐसा केवल आदिम, विस्तृत (extensive) उद्यमों में होता है – बल्कि यंत्रों और तकनीक में सुधार तथा उनके आधुनिकीकरण पर, उसी क्षेत्रफल पर अतिरिक्त (additional) पूंजी निवेश पर – जैसे कि नई मशीनरी अथवा कृत्रिम खाद के रूप में, या फिर बढ़े हुए और सुधारे गए (improved) पशुधन के रूप में – भी निर्भर करता है।
>
> (लेनिन, *Collected Works, Moscow*, खण्ड 22, पृष्ठ 69, इटैलिक्स लेखक के, अनुवाद व जोर हमारा)

जाहिर है कि पहले भू-जोतों को केवल क्षेत्रफल के आधार पर वर्गीकृत करना और फिर उस वर्गीकरण के आधार पर निष्कर्ष निकालना, कि 'क्योंकि भू-जोतों के आकार बढ़ने के साथ-साथ उत्पादकता घटती जाती है, इसलिए भारतीय कृषि में पूंजीवाद नहीं है', विश्लेषण की एक गलत प्रणाली है। हमारे देश के क्रांतिकारी आन्दोलन के साहित्य में ऐसे विश्लेषणों की कमी नहीं है। ऐसा विश्लेषण करने वाले साथी या तो जानते ही नहीं हैं या फिर भूल जाते हैं कि पूंजीवादी कृषि में भू-जोत का क्षेत्रफल उस कृषि उद्यम (enterprise) के पैमाने का एकमात्र आधार नहीं है। छोटी भू-जोत पर गहन खेती करने वाला उद्यम, बड़ी भू-जोत व विस्तृत खेती करने वाले उद्यम के बराबर पैमाने का अथवा उससे बड़े पैमाने का भी उद्यम हो सकता है। यदि हम भारतीय कृषि में इस पूंजीवादी प्रकृति की जांच करना चाहते हैं कि उद्यम का आकार बढ़ने के साथ-साथ उत्पादकता बढ़ती जाती है तो हमें बराबर पैमाने के उद्यमों को एक साथ रखने वाली वर्गीकरण की प्रणाली को अपनाना चाहिये, न कि क्षेत्रफल के आधार पर वर्गीकृत करने वाली प्रणाली को। कृषि उद्यमों के उत्पादों के मूल्य के आधार पर वर्गीकरण हमें एक बराबर पैमाने के उद्यमों को एक वर्ग में रखने में मदद देगा और तब भारतीय कृषि में भी हमें उद्यमों के बढ़ते आकार के साथ उत्पादकता भी बढ़ती दिखाई देगी, यानि भारतीय कृषि में पूंजीवादी विकास नजर आने लगेगा। यदि हम ऐसी प्रणाली नहीं अपनाते और क्षेत्रफल के आधार पर वर्गीकरण करते हैं तब हम छोटे और बड़े पैमाने के कृषि उद्यमों को, ज्यादा उत्पादक और कम उत्पादक उद्यमों को, एक ही वर्ग में शामिल करने की गलती करते हैं। इसके परिणामस्वरूप निकाली गई विभिन्न वर्गों की औसत उत्पादकता एक ऐसा

छद्म आवरण पैदा कर देती है जो छोटे किसानों की दरिद्रता, कंगाली, बदहाली, बर्बादी को न केवल छिपा देती है बल्कि उसका ऐसा खूबसूरत चित्र खींच देती है जो पूंजीवाद को उत्पीड़क, शोषक व अन्यायकारी प्रदर्शित करने के स्थान पर अच्छी रोशनी में ही प्रदर्शित करता है। इस बात को लेनिन निम्नलिखित शब्दों में अभिव्यक्त करते हैं:

> "खेतों का उनके उत्पाद के मूल्य के आधार पर वर्गीकरण उन उद्यमों को एक साथ ले आता है जिनका, चाहे उनका क्षेत्रफल कुछ ही हो, *समान पैमाने का उत्पादन* है। इसके अनुसार, भूमि के छोटे से टुकड़े वाला अत्यधिक गहन उद्यम उसी वर्ग में शामिल होना है जिसमें विशाल क्षेत्र पर आधारित अपेक्षाकृत विस्तृत उद्यम; दोनों ही वास्तव में उत्पादन और भाड़े के श्रम को रोजगार पर रखने के मामले में विशाल पैमाने के उद्यम हैं।"
>
> "इसके विपरीत, क्षेत्रफल के अनुसार वर्गीकरण विशाल और छोटे उद्यमों के एक साथ कर देता है क्योंकि उनका क्षेत्रफल एक समान है; यह बिलकुल भिन्न पैमाने के कारोबार वाले उद्यमों को - उन उद्यमों को, जिनमें पारिवारिक श्रम का प्रभुत्व है और उन उद्यमों को, जिनमें भाड़े के श्रम के प्रभुत्व है - एक ही वर्ग में डाल देता है। परिणाम होता है पूंजीवाद के भीतर *भीतरे वर्ग अन्तर्विरोधों* का चित्र, एक ऐसा चित्र जो मामलों की वास्तविक स्थिति के बारे में मूलतः गलत और बिलकुल गलत दिशा में ले जाने वाला है, लेकिन ऐसा चित्र जो बुर्जुआ वर्ग को बेहद पसंद है।"
>
> (व्ला.इ. लेनिन, *Collected Works, Moscow*, खण्ड 22, पृष्ठ 70, इटैलिक्स मूल में, अनुवाद हमारा)
>
> "जरा कल्पना कीजिये कि 90 छोटे किसानों के एक समूह, जिनके पास अपने खेतों को सुधारने (improve) के लिए कोई पूंजी नहीं है, जो समय से पीछे घिसट रहे हैं और क्रमशः बर्बाद हो रहे हैं, के साथ सांख्यिकीविद् 10 ऐसे किसानों को जोड़ देता है जिनके पास अपनी आवश्यकता भर पूंजी है और जो उतने ही छोटे भूमि के टुकड़े पर भाड़े के श्रम पर आधारित बड़े-पैमाने का कारोबार (operation) शरू कर देते हैं। इसका शुद्ध परिणाम सभी सौ छोटे किसानों का सजावट भरा चित्र (embellished picture) होगा।
>
> (व्ला.इ. लेनिन, *Collected Works, Moscow*, खण्ड 22, पृष्ठ 71, इटैलिक्स मूल में, अनुवाद हमारा)

यह स्पष्ट है कि कृषि उद्यम के उत्पाद के मूल्य के आधार पर उद्यमों का वर्गीकरण करने की विधि अपनाने की जगह केवल क्षेत्रफल के आधार पर वर्गीकरण करने की विधि अपनाने के बाद उस पर आधारित विश्लेषण यथार्थ को प्रदर्शित नहीं करता और इस प्रकार की गई, कृषि में पूंजीवाद के विकास की, जांच-पड़ताल आधी-अधूरी, यथार्थ को समग्रता में अभिव्यक्त न करने वाली व गलत निष्कर्षों से ओतप्रोत होगी।

आइये, अपनी बात को आगे बढ़ायें। हमारे क्रांतिकारी आन्दोलन के कई कामरेडों को भारतीय कृषि में बढ़ता पूंजी निवेश व कृषि की बढ़ती गहनता (intensiveness) नजर नहीं आती। कृषि की गहनता को वे मात्र सकल बोये गए क्षेत्रफल और शुद्ध बोये गए क्षेत्रफल के अनुपात से मापते हैं और फिर नतीजा निकालते हैं कि जोतों का क्षेत्रफल बढ़ने के साथ उपरोक्त अनुपात घटता जाता है यानी बड़ी जोतों पर कृषि, छोटी जोतों से कम गहन है। यानी कृषि में पूंजीवादी विकास अवरुद्ध है। जोतों के क्षेत्रफल के आधार पर वर्गीकरण की विधि की आलोचना तो हम ऊपर कर चुके हैं। अब संक्षेप में कृषि की गहनता के मामले को लें। कृषि की गहनता का एक मात्र पैमाना सकल बोये गए क्षेत्रफल व शुद्ध बोये गए क्षेत्रफल का अनुपात नहीं है। यह कृषि की गहनता का सबसे बेहतर पैमाना भी नहीं हैं। लेनिन लिखते हैं:

> **"खादों पर खर्च और यंत्रों व मशीनों का मूल्य, कृषि की गहनता (intensification) के स्तर के बारे में सबसे ठीक सांख्यिकीय अभिव्यक्ति हैं।"**
>
> (व्ला.इ. लेनिन, *Collected Works, Moscow*, खण्ड 22, पृष्ठ 42, अनुवाद हमारा)
>
> **".....भूमि में पूँजी लगाने का क्या अर्थ है? इसका अर्थ है कृषि में तकनीकी परिवर्तन, इसकी गहनता, भूमि पर खेती की उच्चतर व्यवस्थाओं की ओर संक्रमण, कृत्रिम खादों का बढ़ा हुआ प्रयोग, यंत्रों व मशीनों का व्यापक प्रयोग व उनका सुधार, भाड़े के मजदूर का बड़े पैमाने पर काम में लगाना, वगैरह। केवल क्षेत्रफल (acreage) के तथ्य इन सभी सॉस्लिष्ट और विभिन्नताओं वाली प्रक्रियाओं को जो सभी आपस में मिलकर कृषि में पूंजीवादी विकास की सामान्य प्रक्रिया का निर्माण करते हैं, अभिव्यक्त नहीं कर सकते।"**
>
> (व्ला.इ. लेनिन, *Collected Works, Moscow*, खण्ड 22, पृष्ठ 59-60, अनुवाद हमारा)

स्पष्ट है कि भारतीय कृषि के पूँजीवादी विकास के संदर्भ में कृषि की गहनता की जाँच करने वाले कामरेडों को कृत्रिम खादों पर खर्च, यंत्रों व मशीनों का मूल्य, उन्नत बीजों का प्रयोग, कृषि की तकनीकों में परिवर्तन,

सारणी 7 : भारतीय कृषि में मशीनों, यंत्रों, रसायनों व उन्नत बीजों का बढ़ता प्रयोग

	1970-71	1980-81	1990-91	1996-97	1997-98
1. खादें (करोड़ टन)	0.22	0.55	1.25	1.43	1.62
2. ट्रैक्टर (लाख में)	0.75*	4.86*	13.63□	-	-
3. पावर टिलर (tiller) (लाख में)	-	2.49*	5.13□	-	-
4. पम्प (बिजली व डीजल) (करोड़ में)	0.5*	1.1*	1.6□	-	-
5. खाद्यानों HYV बीजों का विस्तार (करोड़ हेक्टेयर)	1.54	4.31	6.50	7.64	-

[स्रोत : * – NSS 26th round , ● – NSS 37th round , □ – NSS 48th round]

वगैरह जैसे संकेतों के आधार पर कृषि की गहनता की जाँच करनी चाहिए। ऐसा न करना कृषि में पूँजीवादी विकास की जांच-पड़ताल की श्रेणी में नहीं बल्कि पूंजीवादी विकास के यथार्थ से मुंह चुराने की श्रेणी में आता है।

लेनिन "खादों पर खर्च और यंत्रों व मशीनों के मूल्य को कृषि की गहनता के स्तर के बारे में सबसे ठीक सांख्यिकीय अभिव्यक्ति" बताते हैं। इन मामलों में भारत के संदर्भ में विगत कुछ दशकों के आंकड़े (अथवा नमूना सर्वेक्षण के आधार पर निकाले गए अनुमान) क्या बताते हैं, आइये इस पर नजर डालें। सारिणी 7 यह बताती है कि 1970-71 से 1997-98 के बीच 27 वर्षों में खादों का उपभोग 0.27 करोड़ टन से बढ़कर 1. 62 करोड़ टन तक बढ़ गया है यानी 27 वर्षों में खादों का उपभोग 7.4 गुना बढ़ गया है। क्या यह भारतीय कृषि में बढ़े हुए पूंजी निवेश को नहीं दिखाता?

इसी प्रकार इस सारणी में दिखाई देता है कि ट्रैक्टरों, पावर टिलर व पम्पों की संख्या में भारी वृद्धि हुई है। ये सभी कृषि में बढ़ती गहनता के परिचायक हैं। कृषि में उन्नत बीजों के इस्तेमाल का आलम यह है कि खाद्यान्नों की उच्च उत्पादन देने वाली प्रजातियों (high yielding varieties) के तहत क्षेत्रफल 1970-71 के 1. 54 करोड़ हेक्टेयर से बढ़कर 1996-97 में 7.64 करोड़ हेक्टेयर यानी करीब पांच गुना हो गया था। इसी प्रकार कृषि कार्यों में ऊर्जा की खपत में भारी वृद्धि भी स्पष्ट देखी जा सकती है। ये सभी खेती में बढ़ते पूंजी निवेश व कृषि की बढ़ती गहनता को दिखाते हैं।

लेकिन भारत के क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट आन्दोलन में भारत को अर्द्ध-सामंती मानने वाले हमारे साथी इन तथ्यों को नजर अंदाज करने का प्रयास करते हैं और इसके लिये तर्क भी ढूंढ़ लेते हैं। पहला तर्क तो यह होता है कि ये सब साम्राज्यवाद के मातहत हो रहा है, इसलिये पूंजीवाद के विकास को नहीं दर्शाता। यहाँ हम इस बहस में नहीं पड़ेंगे कि भारतीय कृषि में कृत्रिम खादों, उन्नत बीजों, ट्रैक्टरों वगैरह की बढ़ोत्तरी साम्राज्यवादियों, भारतीय औद्योगिक बुर्जुआ और भारतीय ग्रामीण बुर्जुआ में से किसकी कितनी इच्छा का परिणाम है और इनके बीच रिश्तों का क्या चरित्र है। असल सवाल यह है कि भारतीय कृषि में पूंजीवादी उत्पादन संबंधों (उजरती श्रम का शोषण) का विस्तार हो रहा है अथवा नहीं, मशीनों, खादों व ऊर्जा के बढ़ते प्रयोग के कारण कृषि में गहनता बढ़ रही है या नहीं? यदि ऐसा हो रहा है तो यह भारतीय कृषि में पूंजीवादी विकास को दर्शाता है, चाहे यह केवल साम्राज्यवाद के इशारे पर हो रहा हो, साम्राज्यवाद व भारतीय पूँजीपति वर्गों के गठजोड़ के द्वारा हो रहा हो अथवा भारतीय पूँजीपति वर्ग की स्वतंत्र पहलकदमी के कारण हो रहा हो।

मुख्य सवाल यही है कि जो हो रहा है (कृषि में पूँजी निवेश, मशीनीकरण व ऊर्जा चालित यंत्रों के प्रयोग में वृद्धि, कृषकों द्वारा बाजार के लिए उत्पादन, ग्रामीण आबादी की बहुसंख्या का बाजार में खींच लिया जाना, उजरती श्रम (wage labour) का बढ़ते पैमाने पर प्रयोग वगैरह), वह भारतीय कृषि में पूंजी और पूंजीवादी संबंधों का विस्तार है या नहीं। और इसी का जवाब दिया जाना चहिए। साम्राज्यवाद के सवाल को इसमें उलझा देने पर इस प्रश्न का जवाब देने की ओर बढ़ने में रत्ती भर भी मदद नहीं मिलती।

हमारे साथियों का दूसरा तर्क यह होता है कि "अभी तो कृषि में मशीनों का प्रयोग कहुत कम हो रहा है।"

1980 के दशक के उत्तरार्द्ध में प्रकाशित एक आलेख में (उस समय उपलब्ध आकड़ों के अनुसार देश में करीब 6 लाख ट्रैक्टर मौजूद थे) लेखक का तर्क था कि यदि यह मान लिया जाय कि एक ट्रैक्टर 15 हेक्टेयर भूमि पर कृषि के लिये पर्याप्त है तो मौजूदा ट्रैक्टरों की संख्या निवल (net) बोये गए क्षेत्रफल के *मात्र* 6 प्रतिशत पर कृषि के लायक है, जो कि बहुत कम है। इसी तर्क से चलें तो 1991-92 में, जब अनुमानों के मुताबिक ग्रामीण भारत में 13.63 लाख ट्रैक्टरों के होने का अनुमान था, निवल बोये गए क्षेत्रफल के मात्र 14.5% पर ही ट्रैक्टरों से कृषि हो रही होगी। ऐसे साथियों की नजर में शायद पूंजीवादी विकास के लिए यह भी कम ही होगा। ऐसे साथियों से हम जानना चाहेंगे कि किसी देश में कृषि-व्यवस्था में पूंजीवाद की मौजूदगी के लिए कितने प्रतिशत भूमि पर ट्रैक्टरों से खेती होना आवश्यक है? वैसे हम बताना भी चाहेंगे कि 18 वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और 19 वीं शताब्दी में दुनिया के कई देशों में ट्रैक्टरों के बिना ही, घोड़ों-खच्चरों के जरिए पूंजीवाद का विकास हो गया था। और हमारे साथी हैं कि बैलों-भैंसों के साथ लकड़ी व लोहे के हलों के प्रयोग को अर्द्ध-सामंतवाद के अवशेष के रूप में चिह्नित करते हैं तथा भारत में आज भी बैलों-हलों के बड़ी मात्रा में प्रयोग की ओर इंगित करते हुए भारतीय कृषि को अर्द्ध-सामंती मान लेते हैं। हम ऐसे साथियों का ध्यान लेनिन की रचनाओं *'रूस में पूंजीवाद का विकास'* (Development of Capitalism in Russia) और *"अमरीकी कृषि के बारे में नए आंकड़े"* (New Data on American Agriculture) जैसी रचनाओं की ओर दिलाना चाहेंगे। इन रचनाओं में लेनिन रूस और अमरीका की कृषि में गहनता की जाँच के लिए हर जोत पर घोड़ों की संख्या को एक महत्वपूर्ण पैमाने के रूप में प्रयोग करते हैं। बात स्पष्ट है कि भारत के बड़े भू-भाग पर यदि अभी भी हल-बैलों से खेती हो रही है तो इससे यह कतई साबित नहीं हो जाता कि भारतीय कृषि में पूंजीवाद नहीं अर्द्ध-सामंतवाद हावी है। कृषि में पूंजीवाद हल-बैलों के जरिये भी आ सकता है।

फिर कृषि में ट्रैक्टरों के प्रयोग का क्या अर्थ है? कृषि में ट्रैक्टरों का प्रयोग, कृषि में मशीनीकरण के और इसके जरिये कृषि की गहनता के अपेक्षाकृत उच्चतर स्तर को दर्शाता है। ट्रैक्टरों का प्रयोग कृषि में पूंजी निवेश के उच्चतर स्तर को दर्शाता है। ट्रैक्टरों का प्रयोग कृषि में पूंजीवादी उत्पादन संबंधों को दर्शाता है क्योंकि इतनी परिष्कृत तकनीक वाली मशीनरी का प्रयोग और अर्द्ध-सामंती बंधन के रिश्ते साथ-साथ नहीं चल सकते। इस प्रकार ट्रैक्टरों का प्रयोग कृषि में उजरती श्रम और पूंजी के अंतर्विरोध की मौजूदगी को दिखाता है। ट्रैक्टरों के बढ़ते प्रयोग का अर्थ है कि ग्रामीण इलाकों में बड़े भू-स्वामी अपनी जोतें छोटे किसानों को न देकर उस पर स्वयं खेती करवा रहे हैं, खेती के यंत्रों-मशीनों में पूंजी निवेश कर रहे है तथा ऐसी जोतों पर खेती का काम उजरती मज़दूरों द्वारा हो रहा है। चूंकि छोटे किसानों के पास पूंजी का अभाव होता है और वे ट्रैक्टर जैसी ऊँची कीमत वाली मशीनरी नहीं खरीद सकते, इसलिए यदि केवल छोटे किसान ही खेती कर रहे हों और बड़े किसान स्वयं खेती करने के बजाय छोटे किसानों को अपनी भूमि कृषि हेतु किराए/लगान पर दे रहे हों तो ट्रैक्टरों की संख्या में इतनी वृद्धि नहीं होती। अब ज़ाहिर सी बात है कि जब बड़ा भू-स्वामी अपनी जोतों पर अपनी ही मशीनों, यंत्रों, कृषि रसायनों, बीजों का प्रयोग करवाने लगे, तब खेतों के मेहनतकशों के बंधुआ किसान होने की जगह उजरती मज़दूर होने की संभावना बढ़ जाती है। कृषि में ट्रैक्टरों व इसी प्रकार अन्य मशीनों के बढ़ते प्रयोग के यही निहितार्थ होते हैं, जिनकी ओर हमने उपर इशारा किया है।

अब ज़रा भारतीय कृषि की गहनता के वर्गीय चरित्र पर नज़र डालें। यहां हमारा दुर्भाग्य है कि जोतों के उत्पाद के मूल्य के आधार पर जोतों को श्रेणीबद्ध करते हुए विभिन्न श्रेणियों में प्रयुक्त होने वाली मशीनरी के आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं। इसलिए हमें मजबूरन क्षेत्रफल के आधार पर जोतों के वर्गीकरण के आंकड़ों की मदद लेनी होगी। लेकिन इनका प्रयोग हमें सावधानी के साथ करना होगा और इनकी सीमाओं को ध्यान में रखना होगा।

सारणी 8 से यह स्पष्ट होता है कि जोतों का आकार बढ़ने के साथ-साथ कृषि में प्रयुक्त होने वाली विभिन्न मशीनों को प्रयोग करने वाले परिवारों का प्रतिशत बढ़ता जाता है। जाहिर है कि बड़ी जोतों के प्रचालकों में आधुनिक कृषि यंत्रों के प्रयोग का रुझान अपने से छोटी जोतों के प्रचालकों के मुकाबले ज्यादा है। इसलिए किसी के द्वारा भी यह निष्कर्ष निकाला जाना गलत है कि बड़ी जोतों के मालिकों में गहन पूंजीवादी खेती की प्रवृत्ति

सारणी 8 : 1991-1992 भू-जोतों के आकार-वर्ग के अनुसार कृषि मशीनों की संख्या

परिवार प्रचालित भू-जोतों का आकार वर्ग (household operational landholding) (हेक्टेयर में)	प्रति 100 परिवारों पर कृषि मशीनरी की संख्या										
	हल		हैरो	Seed Drill	Sprayer	Duster	Draft Cutter	Power Tiller	ट्रैक्टर	ट्रैक्टर ट्रॉली	हार्वेस्टर
	लकड़ी	लोहा									
1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12
शून्य	1.97	0.58	2.02	0.10	0.03	0.01	1.17	-	-	-	0.03
0.002 से कम	5.10	0.87	3.16	1.52	0.16	0.47	5.86	-	0.05	0.05	0.02
0.002-0.20	12.72	1.86	7.63	0.66	0.31	0.52	6.63	0.07	0.00	0.00	0.45
0.20-0.50	43.69	7.99	20.25	2.31	1.58	1.62	11.24	-	0.12	0.08	0.52
0.50-1.00	66.77	13.13	30.50	5.37	3.05	3.23	16.22	0.19	0.34	0.14	0.42
1.00-2.00	83.03	19.79	37.03	8.56	4.57	3.07	18.76	0.43	1.09	0.87	0.73
2.00-4.00	92.64	26.47	50.28	17.82	8.89	6.09	22.48	1.07	2.82	2.23	0.53
4.00-10.00	105.30	33.65	73.28	33.17	17.85	7.65	22.74	3.08	8.90	6.19	0.88
10.00 से अधिक	115.88	55.33	96.73	58.41	36.91	17.30	29.56	7.18	22.66	19.52	0.93
सभी वर्ग	45.89	11.13	23.96	6.48	3.51	2.39	11.85	0.44	1.17	0.89	0.44

सारणी 8 (जारी) : 1991-1992 भू-जोतों के आकार-वर्ग के अनुसार कृषि मशीनों की संख्या

परिवार प्रचालित भू-जोतों का आकार वर्ग (household operational landholding) (हेक्टेयर में)	प्रति 100 परिवारों पर कृषि मशीनरी की संख्या									
	Thresher	गन्ना पेराई यंत्र (Cane Crusher)		तेल पेराई यंत्र (Oil Crusher)		[illegible]	Sprinkler	पम्प		
		पावर चालित	अन्य	पावर चालित	अन्य			बिजली	डीज़ल	अन्य
1	13	14	15	16	17	18	19	20	21	22
शून्य	0.03	-	0.09	0.00	-	0.09	-	0.08	0.25	0.11
0.002 से कम	0.71	-	-	-	-	0.87	-	0.14	0.43	0.48
0.002-0.20	0.29	0.04	0.13	-	0.00	0.77	-	0.82	0.40	0.36
0.20-0.50	1.55	0.21	0.20	0.02	0.01	1.56	0.06	3.36	2.74	0.94
0.50-1.00	2.50	0.21	0.37	-	0.02	3.98	0.11	5.53	5.16	1.00
1.00-2.00	4.99	0.48	0.56	0.04	0.07	9.57	0.27	10.40	10.42	1.30
2.00-4.00	6.63	0.97	0.62	0.12	0.23	16.19	1.81	17.00	15.69	1.48
4.00-10.00	9.81	0.85	1.20	0.04	0.14	28.56	1.39	30.92	18.10	1.82
10.00 से अधिक	15.19	1.36	1.04	-	0.48	42.07	8.24	47.87	18.08	3.47
सभी वर्ग	2.71	0.29	0.02	0.02	0.05	5.84	0.39	6.60	5.35	0.83

छोटे, अर्द्ध-मध्यम अथवा मध्यम आधार की जोतों के मुकाबले कम होती है।

अब ज़रा क्षेत्रफल के आधार पर जोतों का वर्गीकरण करने वाली इस सारणी-8 के द्वारा प्रस्तुत की जा रही पूंजीवाद की "अतिसरलीकृत और अप्रर्याप्त" तस्वीर के आगे बढ़कर थोड़ा और गहराई से जाकर विचार करें। हम ट्रैक्टर के प्रयोग को उदाहरण के रूप में प्रयोग करेंगे। सारिणी से यह पता चलता है कि बड़ी जोतों वाले 77.34% प्रचालकों के पास ट्रैक्टर नहीं हैं, जबकि मध्यम जोतों के 8.90% प्रचालकों के पास ट्रैक्टर हैं। यह पूर्णतः सम्भव है कि बड़ी जोतों के ट्रैक्टर न रखने वाले प्रचालकों की अच्छी-खासी संख्या की खेती में लगी पूंजी अथवा कृषि की गहनता का स्तर, मध्यम जोतों के ट्रैक्टर रखने वाले प्रचालकों के एक हिस्से के मुकाबले कम हों। ज्यादा गहन खेती करने वाले अथवा ज्यादा पूंजीनिवेश करने वाले ऐसे मध्यम प्रचालकों का उद्यम,

सापेक्षतः कम गहन खेती करने वाले अथवा सापेक्षतः कम पूंजीनिवेश करने वाले बड़ी जोतों के प्रचालकों के मुकाबले कहीं अधिक पूंजीवादी होगा। अब यदि आंकड़े जोतों के उत्पाद के अनुसार अथवा कृषि में कुल पूंजीनिवेश के अनुसार वर्गीकृत किए गए होते तो अपेक्षाकृत कम पूंजीवादी जोतों के प्रचालकों (बड़ी आकार की जोतों के बावजूद) निचले वर्ग में शामिल किए गए होते और इसी प्रकार अपेक्षाकृत अधिक पूंजीवादी जोतों के प्रचालकों (मध्यम आकार की जोतों के बावजूद) सबसे ऊपरी वर्ग में शामिल किये जाते। इसके परिणामस्वरूप हमें छोटे कृषि उद्यम से बड़े कृषि उद्यम की ओर बढ़ने पर कृषि मशीनों के प्रयोग की बढ़ती हुई प्रवृत्ति दिखाई देती, उससे कहीं ज्यादा तेजी के साथ बढ़ती हुई प्रवृत्ति जितनी कि यह क्षेत्रफल के आधार पर किये गए जोतों के वर्गीकरण के अंतर्गत दिखाई पड़ती है। यही तर्क विभिन्न अन्य मशीनों के मामले में भी लागू होता है।

इसी प्रकार, भारतीय कृषि में पूंजीवादी विकास को नकारने वाले हमारे कामरेडों को कृषि में बड़े पैमाने के उत्पादन द्वारा छोटे पैमाने के उत्पादन का विस्थापन दिखाई नहीं देता है। इसका मूल कारण यह है कि कृषि में बड़े पैमाने के उत्पादन द्वारा छोटे पैमाने के उत्पादन को विस्थापित करने की प्रक्रिया के बारे हमारे ऐसे ज्यादातर साथी अवधारणा के स्तर पर ही गलती कर रहे होते हैं। दरअसल ये साथी कृषि में इस प्रक्रिया को उसी रूप में देखना चाहते हैं जिस प्रकार यह औद्योगिक क्षेत्र में दिखाई देती है। उनकी नजर में यह प्रक्रिया तभी आगे बढ़ती हुई मानी जाएगी, जब बड़ी भू-जोतें छोटी भू-जोतों को अपने में पचाती हुई और बड़ी होती जाएं तथा छोटी भू जोतें अपना अस्तित्व खोती जाएं। इसी वजह से भारतीय कृषि में पूंजीवादी विकास को नकारने के लिए ये साथी क्षेत्रफल (acreage) पर आधारित भू-जोतों के वर्गीकरण को प्रस्तुत करते हुए यह तर्क पेश करते हैं कि बड़ी भू-जोतों की संख्या व उनके मातहत कुल क्षेत्रफल घट रहा है जबकि छोटी भू-जोतें की संख्या (व कई मामलों में उनके अन्तर्गत कुल क्षेत्रफल) बढ़ रहा है। यानी बड़ी भू-जोतों छोटी भू-जोतों को विस्थापित नहीं कर रही हैं। ऐसे तर्क पेश करने वाले साथियों से हमारा कहना है कि कृषि में बड़े पैमाने के उत्पादन द्वारा छोटे पैमाने के उत्पादन के विस्थापन की प्रक्रिया को केवल सीधे-सीधे बड़ी भू-जोतों द्वारा छोटी भू-जोतों को निगल लिये जाने के रूप में देखने का प्रयास नहीं करना चाहिए। कृषि में पूंजीवादी विकास में यह प्रक्रिया केवल ऐसे नहीं चलती। इसे छोटे किसानों की बर्बादी, उनकी खेती की बिगड़ती हालत, बढ़ती ऋणग्रस्तता, उनके निम्न गुणवत्ता के कृषि कर्म, उनके कुपोषण व उनके द्वारा शक्ति से अधिक परिश्रम करने की उनकी मजबूरी में भी देखा जाना चाहिये। यूं भी कृषि में छोटे उत्पादक को, भूमि के क्षेत्रफल के सीमित आकार के कारण, बाहर करने की प्रक्रिया बहुत तेजी के साथ नहीं चल पाती है और छोटी भू-जोतों को खरीदकर बड़ी भू-जोतों का निर्माण एक अत्यन्त कठिन काम है। इसलिए यह छोटे पैमाने के कृषि उद्यम को विस्थापित कर बड़े पैमाने के कृषि उद्यमों के विकास का सामान्य रूप नहीं बन पाता है। हालांकि ऐसा होना संभव है और होता भी है, लेकिन यही बड़े पैमाने के उद्यमों के अस्तित्व में आने की एकमात्र व सामान्य प्रक्रिया नहीं है। आइये देखें, लेनिन के इस विषय में क्या विचार हैं:

> "वास्तव में, पूंजीवाद की, उद्योग और कृषि दोनों में, मूल और प्रमुख प्रवृत्ति (trend) है बड़े पैमाने के उत्पादन द्वारा छोटे पैमाने के उत्पादन का विस्थापन। लेकिन इस विस्थापन की *केवल* सीधे अधिग्रहण (immediate exporiation) के रूप में व्याख्या नहीं करनी चाहिए। विस्थापन का अर्थ छोटे किसानों की बर्बादी और उनके खेत की बिगड़ती हालत भी है, एक ऐसी प्रक्रिया जो वर्षों और दशकों तक जारी रह सकती है। यह ह्रास बहुत भिन्न रूप धारण कर सकता है, जैसे छोटे किसान का अतिपरिश्रम अथवा कुपोषण, उसका भारी ऋण, पशुधन के लिए खराब आहार और सामान्य रूप से खराब रख-रखाव, घटिया कृषिकर्म -- खेती, उपजाऊ बनाने की विधि (fertilisation), वगैरह — के साथ-साथ खेतों पर तकनीकी ठहराव, वगैरह-वगैरह।.....
>
> (व्ला.इ. लेनिन, *Collected Works, Moscow*, खण्ड 22, पृष्ठ 70, इटैलिक्स मूल में, अनुवाद हमारा)
>
> "..... खेती में, मुख्यतः भूमि के क्षेत्रफल के सीमित आकार के कारण, छोटे उत्पादक को बाहर करने की प्रक्रिया बाधित होती है; बड़ी भू-जोतों (land holding) के निर्माण के लिए छोटी भू-जोतों को खरीदना एक बहुत मुश्किल बात है; गहन खेती के साथ हासिल की गई उत्पाद की मात्रा में वृद्धि कभी-कभी भूमि के क्षेत्रफल में कमी के अनुरूप होती है (.....)। एक मालिक द्वारा कई जोतों को खरीद लेने के जरिए उत्पादन का संकेंद्रण होता है; इस प्रकार अस्तित्व में आया latifundia बड़े पैमाने की पूंजीवादी खेती के उच्चतर रूप के आधार का काम करता है। अन्त में, बड़े भूस्वामियों के लिए यह लाभकारी भी नहीं होगा कि वह छोटे मालिकों को पूर्णतः बाहर कर दे; वे उन्हें काम

के लिये हाथ उपलब्ध कराते हैं। इसी कारण से भूस्वामी और पूंजीपति बहुधा ही ऐसे कानून बनाते हैं जो छोटे किसानों (peasantry) को कृत्रिम ढंग से बनाये रखते हैं। छोटी किसानी तब स्थिर हो जाती जाती है, जब यह बड़े पैमाने की खेती से प्रतियोगिता करना बन्द कर देती है, जब यह उनके लिए श्रम-शक्ति की पूर्ति करने वाली बन जाती है। बड़े और छोटे के बीच रिश्ता, पूंजीपतियों और सर्वहारा के बीच रिश्ते के नजदीक पहुँच जाता है।

(व्ला.इ. लेनिन, काउत्सकी की पुस्तक "The Agrarian Questions" पर,
Collected Works, Moscow, खण्ड 4, पृष्ठ 96-97, अनुवाद हमारा)

हमें यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि यूरोपीय देशों में पूंजीवाद के विकास का यह इतिहास रहा है कि पूंजीवादी विकास की काफी उच्च मंजिल में पहुँच जाने तक भी वहाँ कृषि में सीमान्त-लघु किसानों की अच्छी-खासी आबादी थी, जो एक प्रकार से विस्थापित हो चुके थे लेकिन फिर भी जमीन के छोटे से टुकड़े से चिपके हुए थे। पूंजीवादी कृषि के चरित्र में यह भी होता है कि ऐसे किनारे लग चुके, प्रतियोगिता से बाहर हो चुके, पेट्टी किसानों की आबादी को बनाये रखा जाय क्योंकि वे बड़े उत्पादकों (धनी किसानों/फार्मरों) को कृषि के मौसम में हाथ उपलब्ध कराते हैं और जब काम का समय न हो तो बड़े उत्पादकों को इनके जीवन जीने के लिए न्यूनतम् ज़रूरी मजदूरी भी नहीं देनी पड़ती। हालांकि इनका व बड़े उत्पादकों का रिश्ता अपनी *अंतर्वस्तु* में सर्वहारा व पूंजीपति के रिश्ते के नजदीक पहुँच गया होता है तथापि *रूप में* ये किसान उत्पादक नजर आते हैं। यह कई विभ्रमों को जन्म देता है। इन विभ्रमों में से कई हमारे आन्दोलन में भी बहुत दिखाई देते हैं। इन्हें दूर करना, भारतीय कृषि के चरित्र को समझने की दिशा में पहला कदम होगा।

ज्यादा विस्तार में गये बिना हम यही करना चाहेंगे कि हमें भारतीय कृषि में पूंजीवादी विकास का अध्ययन करते समय वही पद्धति अपनानी चाहिये, जिसकी लेनिन वकालत करते हैं। कृषि में उत्पादन के संकेन्द्रण को कृषि की विशेष परिस्थितियों के मद्देनजर जांचना चाहिये न कि औद्योगिक क्षेत्र की तर्ज पर कृषि में उत्पादन के संकेन्द्रण व छोटे उत्पादकों के विस्थापन की तलाश करनी चाहिए। यह ध्यान रखना चाहिये कि कृषि में छोटे उत्पादक का प्रत्यक्षतः विस्थापन होने में दशकों लग सकते हैं और इसके पहले विस्थापन की यह प्रक्रिया परोक्षतः चलती है और छोटे उत्पादकों के अतिपरिश्रम (overwork), कुपोषण, भारी ऋणग्रस्तता, निम्न स्तर की खेती, घटिया दर्जे के कृषि कर्म के रूप में दिखाई देती है। क्या यह प्रक्रिया भारत की कृषि व्यवस्था में नहीं दिखाई देती? अवश्य दिखाई देती है। इनके वर्णनों से हमारे आन्दोलन का साहित्य भरा पड़ा है। समस्या केवल यह है कि इसे हमारे साथीगण पूंजीवादी विकास की प्रक्रिया के परिणाम के रूप में देखने की बजाय उसे पूंजीवाद का विकास न होने और अर्द्ध सामंतवाद की मौजूदगी के रूप में देखते और विश्लेषित करते हैं। इसलिए ज़रूरत इस समझ को दुरूस्त करने की है।

IV

लेख के इस हिस्से में हम ग्रामीण ऋणग्रस्तता (rural indebtedness) के प्रश्न को लेंगे। भारत के क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट आन्दोलन के विगत चन्द वर्षों का साहित्य ग्रामीण ऋणग्रस्तता के जिक्रों से भरा पड़ा है। इन वर्णनों में यह बताया जाता है कि भारतीय किसान भारी कर्जों के बोझ तले दबे हुए हैं और किसानों को कर्जे देकर अपने शिकंजे में कसने वाले ग्रामीण व्यापारी व सूदखोर हैं। ये कर्जे, वर्णनों के मुताबिक, कृषि के कार्यों के साथ निजी आपदाओं—आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए दिये जाते हैं और किसानों पर गैर-आर्थिक दबाव के जरिये शोषण का भी कारण बनते हैं। इस प्रकार व्यापारी पूंजी (merchant's capital) व सूदखोर पूंजी (usurious capital) किसानों का अर्द्ध-सामंती शोषण कर रही हैं और भारत के ग्रामीण इलाकों में पूंजीवाद का विकास नहीं होने दे रही हैं। इन वर्णनों में, स्वाभाविक रूप से, व्यापारी पूंजी व सूदखोरी पूंजी की मौजूदगी को अर्द्ध-सामंती व्यवस्था के बने रहने के सुबूत के तौर पर पेश किया जाता है।

हम समझते हैं कि मात्र व्यापारिक पूंजी और सूदखोरी पूंजी के ग्रामीण इलाकों में बड़े पैमाने पर मौजूदगी से यह साबित नहीं हो जाता कि कृषि में पूंजीवाद मौजूद है या नहीं और वह विकसित हो रहा है या नहीं। हमें इनकी मौजूदगी की बात करने से आगे बढ़कर यह प्रश्न करना होगा कि ग्रामीण इलाकों में व्यापारी व सूदखोर पूंजी, किसानों के विभेदीकरण (differentiation of peasantry) — जो कि पूंजीवादी विकास का एक महत्वपूर्ण सूचक है — की प्रक्रिया को आगे बढ़ा रहे हैं या नहीं? हमें यह प्रश्न पूछना होगा कि व्यापारी व सूदखोर पूंजी

के औद्योगिक पूंजी के साथ क्या संबंध है? उपरोक्त प्रश्नों व इसी प्रकार के अन्य प्रश्नों के जवाब ही हमें यह बता सकेंगे कि कृषि में पूंजीवादी विकास हो रहा है अथवा वह अर्द्ध-सामंती अवस्था में ठहरी हुई है।

सबसे पहले इस मामले की सैद्धान्तिक पक्षों को समझने का प्रयास करना होगा। इस विषय पर कार्ल-मार्क्स के विचारों को संक्षेप में लेनिन ने निम्नवत् प्रस्तुत किया है:

"जैसा कि ज्ञात है, हमारे ग्रामीण जिलों में व्यापारी और सूदखोर पूंजी द्वारा बहुत बड़ी भूमिका अदा की जा रही है।..... एकमात्र प्रश्न, जिसमें हमारी रूचि है, वह निम्नवत् है: हमारे ग्रामीण इलाकों में व्यापारी व सूदखोर पूंजी का किसान लोगों के बीच विभेदीकरण (differentiation of peasantry) से क्या संबंध है? क्या ऊपर वर्णित किसानों के विभिन्न समूहों के बीच संबंधों और ऋणदाता किसान व ऋणी किसान के बीच संबंध में कोई जुड़ाव (connection) है? क्या सूदखोरी विभेदीकरण का एक तत्व और एक चालक शक्ति है या फिर वह इस विभेदीकरण को धीमा करती है?

पहले हमें दिखाने दें कि सिद्धान्त इस प्रश्न को कैसे प्रस्तुत करता है। *पूंजी* के लेखक द्वारा किये गये पूंजीवादी उत्पादन के विश्लेषण में, जैसा कि हम जानते हैं, व्यापारी और सूदखोर पूंजी को बहुत महत्व दिया गया है। इस विषय पर मार्क्स के विचारों के मुख्य बिन्दु निम्नवत् है:

1. एक तरफ व्यापारी और सूदखोर पूंजी और दूसरी तरफ औद्योगिक पूंजी (उदाहरणार्थ उत्पादन में, चाहे कृषि अथवा औद्योगिक, निवेश की गई पूंजी), दोनों ही एक प्रकार की आर्थिक परिघटना का प्रतिनिधित्व करते हैं, जो एक सामान्य सूत्र से अभिव्यक्त होती है: मालों को मुनाफे पर बेचने के लिए खरीदना (.....)।

2. व्यापारी और सूदखोर पूंजी हमेशा ओद्योगिक पूंजी के निर्माण से ऐतिहासिक रूप से पहले मौजूद होती हैं और तार्किक रूप से इसके निर्माण के लिए *आवश्यक* पूर्व शर्त (premise) है (.....); लेकिन स्वयं में न तो व्यापारी पूंजी और न ही सूदखोर पूंजी, औद्योगिक पूंजी के उत्थान (पूंजीवादी उत्पादन) के लिये *पर्याप्त* पूर्व शर्त (premise) का प्रतिनिधित्व करती हैं; वे हमेशा ही उत्पादन की पुरानी प्रणाली को विघाटित और इसे उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली से विस्थापित नहीं करती; बाद वाली का निर्माण "केवल ऐतिहासिक विकास के चरण और उससे जुड़ी हुई परिस्थितियों पर निर्भर करता है" (....)। "वे किस हद तक उत्पादन की पुरानी प्रणाली में विघटन लाती हैं, यह उनके ठोसपन व आन्तरिक ढांचे पर निर्भर करता है। और विघटन की यह प्रक्रिया कहां को ले जायगी, या दूसरे शब्दों में उत्पादन की पुरानी प्रणाली को कौन सी नई प्रणाली विस्थापित करेगी, यह व्यापार पर नहीं बल्कि स्वयं पुरानी उत्पादन प्रणाली पर ही निर्भर करता है" (....)।

3. व्यापारी पूंजी का स्वतंत्र विकास पूंजीवादी उत्पादन के विकास के स्तर के व्युत्क्रमानुपाती होता है (....), व्यापारी व सूदखोर पूंजी का जितना ही अधिक विकास होगा, औद्योगिक पूंजी (= पूंजीवादी *उत्पादन*) का विकास उतना ही कम होगा और इसका विपरीत भी लागू होता है।

(व्ला.इ. लेनिन, *Collected Works, Moscow*, खण्ड 3, पृष्ठ 183-184, इटैलिक्स मूल में, अनुवाद हमारा)

लेनिन द्वारा प्रस्तुत, मार्क्स के उपरोक्त विचारों से कुछ बातें स्पष्ट हो जाती हैं। पहली तो यही कि एक तरफ व्यापारी व सूदखोर और दूसरी तरफ औद्योगिक पूंजी कोई परस्पर बहिष्कृत करने वाली (mutually exclusive) आर्थिक परिघटनायें नहीं हैं बल्कि दरअसल एक ही आर्थिक परिघटना - मालों को मुनाफे पर बेचने के लिये खरीदना - है। यानि व्यापारी पूंजी व सूदखोर पूंजी सामंती व्यवस्था की श्रेणी की परिघटनायें ही नहीं है बल्कि माल अर्थव्यवस्था व बाद में पूंजीवादी अर्थव्यवस्था की आर्थिक परिघटनायें भी हैं। ये C-M-C सूत्र से नहीं, बल्कि M-C-M' सूत्र से संचालित होती हैं। दूसरी बात, जो स्पष्ट होती है, वह यह कि व्यापारी व सूदखोर पूंजी ऐतिहासिक तौर पर औद्योगिक पूंजी से पहले परिदृश्य में आती हैं व औद्योगिक पूंजी के निर्माण की आवश्यक पूर्व शर्त है। इससे यह स्पष्ट होना चाहिये कि किसी भी देश की कृषि में यदि पूंजीवादी विकास शुरू होता है तो उसके भीतर व्यापारी व सूदखोर पूंजी का मौजूद होना स्वाभाविक है और कृषि में पूंजीवादी विकास के शुरूआती चरण में उपरोक्त तीनों पूंजियां साथ-साथ दिखाई देती है। यहीं यह समझना भी जरूरी है कि जहाँ व्यापारी व सूदखोर पूंजी का जन्म व विकास पुरानी व्यवस्था (सामंती ढांचे) को कमजोर कर देता है और उसमें से पूंजीवादी व्यवस्था की जमीन तैयार करता है, वहीं केवल उनकी उपस्थिति ही पूंजीवादी विकास की पर्याप्त शर्त नहीं है। यह कई अन्य कारकों पर भी निर्भर करता है। कुल मिलाकर बात यह कि व्यापारी पूंजी व सूदखोर पूंजी की उपस्थिति मात्र न तो अर्द्ध-सामंती (क्योंकि पूर्ण विकसित सामंती समाज में तो ये लगभग अनुपस्थित रहती हैं और इनका विकास सामंती व्यवस्था के उत्तरोत्तर विघटन की अभिव्यक्ति होता है)

व्यवस्था का परिचायक है और न ही पूंजीवादी व्यवस्था का। तीसरी महत्वपूर्ण बात, जो उपरोक्त उद्धरण से निकलती है, वह यह है कि ग्रामीण इलाकों में व्यापारी और सूदखोर पूंजी का *स्वतंत्र* विकास, औद्योगिक पूंजी के विकास के स्तर के व्युत्क्रमानुपाती होता है। एक का स्वतंत्र विकास जितना ज्यादा होगा, दूसरे का उतना ही कम।

कुल मिलाकर, यह बात कहीं से नहीं उभरती, जैसा कि हमारे क्रांतिकारी कम्युनिस्ट आन्दोलन के कई कामरेड समझते हैं, कि भारत के गांवों में यदि व्यापारी पूंजी व सूदखोर पूंजी आज भी बड़े पैमाने पर नजर आती है तो वह सामंतवाद या अर्द्ध-सामंतवाद का परिचायक है। ऐसा निष्कर्ष एक गलत निष्कर्ष है।

दरअसल होता यह है कि सामंती समाज व्यवस्था के अन्तिम दौर में, सामंती समाज के भीतर से ही व्यापारी व सूदखोर पूंजी पैदा होती हैं। इस दौर को हम माल अर्थव्यवस्था के दौर अथवा व्यापारिक पूंजीवाद के दौर के रूप में समझ सकते हैं, जब अभी औद्योगिक पूंजीवाद अस्तित्व में नहीं आया है। व्यापारी व सूदखोर पूंजी, सामंती व्यवस्था के भीतर सेंध लगाती हैं, उसे हिलाती हैं और कमजोर करती हैं। इस प्रकार ये सामंती समाज को विघटन की ओर ले जाती हैं। इस प्रकार से औद्योगिक पूंजी के अस्तित्व में आने का पूर्व पीठिका तैयार करती है। ये औद्योगिक पूंजी के जन्म की **आवश्यक** शर्त हैं लेकिन **पर्याप्त** शर्त नहीं। लेनिन लिखते हैं:

"यदि यह कहा जाता है कि व्यापारी व सूदखोर पूंजी पूंजीवाद के विकास में एक आवश्यक कारक हैं, एक *कम विकसित* पूंजीवादी समाज की कार्यप्रणाली (mechanism) का आवश्यक पहिया है, तो यह सही होगा।
(व्ला.इ. लेनिन, *Collected Works, Moscow*, खण्ड 2, पृष्ठ 442, अनुवाद हमारा)

किन्तु जब, यदि कृषि की ही बात करें, व्यापारी व सूदखोर पूंजी का स्वतंत्र विकास बहुत बढ़ जाता है ओर वे ग्रामीण इलाकों में अपनी जकड़ बना लेती हैं तब वे आगे पूंजीवादी विकास में रोड़ा भी बनने लगती हैं। अभी जब तक राष्ट्रीय बाजार का निर्माण नहीं हुआ होता है, रेलों व सड़कों के माध्यम से गांव शहरों के बीच आवागमन एक बड़े स्तर तक विकसित नहीं हो जाता है, तब तक गांवों में जकड़ बनाये व्यापारियों व सूदखोरों का बोलबाला होता है जो किसानों के समुदाय को जोंक की तरह चूस रहे होते हैं। ऐसे में वे गांवों के भीतर पूंजीवादी विकास में बाधक भी बनते हैं क्योंकि व्यापार व सूदखोरी के जरिये शोषण का मार्ग पूर्णतः खुला होता है और इसी वजह से कृषि को औद्योगिक उद्यम के रूप में चलाकर उससे मुनाफा कमाने में इन व्यापारियों व सूदखोरों की कोई रुचि नहीं होती। उन्हें इसकी आवश्यकता भी नहीं होती।

लेकिन बात यहीं ठहरी नहीं रहती। शहरों में हो रहा औद्योगिक विकास एक समय के बाद ग्रामीण परिवेश को अछूता नहीं छोड़ता। रेल व सड़क जैसे यातायात व संचार के साधनों का विकास गांवों को शहरों से जोड़ने लगता है, शहरों में पूंजीवादी विकास आगे बढ़ते हुए एक राष्ट्रीय बाजार के विकास की ओर ले जाता है और गांव भी राष्ट्रीय बाजार की जद में खींच लिए जाते हैं। जहां एक तरफ गांवों से श्रम-शक्ति का शहरों की ओर पलायन (तदनुसार बाहरी इलाकों व गांव के बीच आवागमन) शुरू होता है और दूसरी तरफ शहरों के उद्योगों के माल व औद्योगिक पूंजी (उद्यमियों के साथ-साथ पूंजी पर अधिकार रखने और उसे उपलब्ध कराने वाली वित्तीय संस्थाएं-यथा बैंक) भी ग्रामीण इलाकों की ओर रुख करते हैं। शहरों के व्यापारी भी ग्रामीण इलाकों में अपना नेटवर्क बढ़ाते हैं। यह सब कुछ गांव में स्थानीय व्यापारी व सूदखोर की जकड़बन्दी में छेद करना शुरू कर देते हैं और ग्रामीण इलाकों में भी पूंजीवादी विकास आरम्भ हो जाता है। इसके फलस्वरूप ग्रामीण इलाकों में किसान समुदाय के बीच विभेदीकरण की प्रक्रिया जोर पकड़ती है और समांग सा नजर आने वाला किसान समुदाय दो शिविरों — ग्रामीण सर्वहारा व ग्रामीण बुर्जुआ — में बंटने लगता है। फलस्वरूप ग्रामीण इलाकों में बाजार का विस्तार बढ़ता जाता है, ग्रामीण इलाकों में व्यापारी व सूदखोर पूंजी की जकड़बन्दी कमजोर होने से जहां व्यापारी व सूदखोर भी पूंजीवादी उद्यमी में रूपान्तरण के लिए बाध्य होते हैं, वहीं ग्रामीण बुर्जुआ (धनी किसान/फार्मर) वगैरह भी सूदखोरी के मैदान में उतर आते हैं। हालांकि बुर्जुआ वित्तीय संस्थाओं की बढ़ती पैठ कुल मिलाकर ग्रामीण ऋण में गैर-संस्थागत ऋण के अनुपातिक हिस्से को कम करती जाती हैं, लेकिन सूदखोर पूंजी का जो कुछ वजूद बचा भी रहता है वह औद्योगिक पूंजी से स्वतंत्र नहीं रह जाता। दरअसल दोनों एक-दूसरे में घुलमिल जाते हैं। ग्रामीण उद्यमी बुर्जुआ (धनी किसान/फार्मर) जहां सूदखोरी भी करते नजर आते हैं वहीं सूदखोरी करने वाले कृषि उद्यम के कामों में संलग्न नजर आते हैं। अब भी सूदखोर पूंजी मौजूद है लेकिन वह

ग्रामीण औद्योगिक पूंजी से अलग, स्वतंत्र नहीं है और न ही वह पूंजीवादी विकास को रोकने में सक्षम है। अब वह किसान समुदाय के विभेदीकरण को भी रोकने की बजाय उसे तेज करती नजर आती है। कुल मिलाकर, ऐसे चरण में, सूदखोर पूंजी की मौजूदगी के बावजूद पूंजीवादी विकास कृषि क्षेत्र में होता है और यह कहने का कोई अर्थ नहीं रह जाता कि चूंकि सूदखोर है, इसलिए अर्द्ध-सामंतवाद है और पूंजीवादी विकास अवरुद्ध है। लेनिन लिखते हैं:

"इस प्रकार, किसान बुर्जुआ व्यापारी व सूदखोर पूंजी का प्रतिनिधि भी है। यहां हमें, नरोदनिकों के इस पूर्वाग्रह (prejudice) का विलक्षण खण्डन मिलता है कि 'कुलकों' और 'सूदखोरों' की 'उद्यमी मुजिक' से कोई समानता नहीं है। इसके विपरीत व्यापारी पूंजी (भूमि की जमानत पर धन कर्ज पर देना, विभिन्न उत्पादों की खरीद, वगैरह) और औद्योगिक पूंजी (वेतन पर काम करने वाले मजदूरों की मदद से वाणिज्यिक खेती, वगैरह), दोनों के तार किसान बुर्जुआ के हाथ में जुड़ जाते हैं।"(व्ला.इ. लेनिन, *Collected Works, Moscow*, खण्ड 3, पृष्ठ 78, अनुवाद हमारा)

"इन किसानों (खाते-पीते किसानों अथवा ग्रामीण बुर्जुआ) द्वारा शुद्ध आय के रूप में हासिल किया गया अतिरिक्त नकद धन या तो व्यापारिक कारोबार और सूदखोरी जो हमारे ग्रामीण जिलों में बहुत अधिक विकसित हैं, को चला जाता है या फिर अनुकूल परिस्थितियों में भूमि की खरीद, खेतों के सुधार, वगैरह में निवेशित होता है।"
(व्ला.इ. लेनिन, *Collected Works, Moscow*, खण्ड 3, पृष्ठ 177, अनुवाद हमारा)

"खाते-पीते किसान, इस कारण से, कृषि में (भूमि की खरीद-बिक्री में, मजदूरों को भाड़े पर रखने में, यंत्रों के सुधार में, वगैरह), औद्योगिक उद्यमों, व्यापार व सूदखोरी में पूंजी निवेश करते हैं: व्यापारी और उद्यमी पूंजी नजदीकी रूप से जुड़े हुए हैं, और आसपास के दायरे की परिस्थितियां यह निश्चित करती हैं कि पूंजी के उपरोक्त रूपों में कौन सी प्रभुत्वशाली होगी।" (व्ला.इ. लेनिन, *Collected Works, Moscow*, खण्ड 3, पृष्ठ 138, अनुवाद हमारा)

सारणी 9 : ग्रामीण परिवारों पर कुल ऋण में संस्थागत एजेन्सियों (institutional agencies) का प्रतिशत हिस्सा

वर्ष	व्यवसायगत श्रेणी		
	कृषक	गैर-कृषक	सभी
1961	18.4	10.5	17.3
1971	31.7	10.8	29.2
1981	63.2	36.7	61.2
1991	66.3	55.3	64.0

[स्रोत: NSS 48th round, Report No. 420]

लेनिन की ये बातें रूस के संदर्भ में कही गई थीं, जो पूंजीवादी विकास के शुरूआती चरण में था। लेकिन ये ऐसी बातें हैं जो सभी देशों में पूंजीवादी के लिए सामान्य नियम के रूप में काम करती हैं। हमें भारत के संदर्भ में भी देखना चाहिए कि ठीक ऐसा ही हो रहा अथवा नहीं।

यहां हम कुल मिलाकर अपने देश के क्रांतिकारी कम्युनिस्ट आन्दोलन के भीतर मौजूद इस प्रवृत्ति की कमजोरी की ओर इंगित करना चाहते हैं जिसके तहत भारत के ग्रामीण इलाकों में सूदखोर पूंजी की मौजूदगी, उसके परिमाण, उसके रक्त-चूसक चरित्र का प्रश्न उठाकर उसके आधार पर भारतीय कृषि व्यवस्था के चरित्र को अर्द्ध-सामंती करार दे दिया जाता है और यह सूत्र दोहरा कर कर्त्तव्य की इतिश्री समझ ली जाती है कि "चूंकि सूदखोरी बड़े पैमाने पर विद्यमान है, इसलिए पूंजीवाद का विकास नहीं हो रहा है"। इसी संदर्भ में हम यह बात स्थापित करना चाहते हैं कि सूदखोरी की मौजूदगी मात्र से पूंजीवाद की मौजूदगी का निषेध नहीं हो जाता। इस संबंध में हमें कुछ अन्य सवाल अवश्य करने चाहिये; जैसे कि कृषि में मौजूद सूदखोरों पूंजी का ग्रामीण औद्योगिक पूंजी से क्या संबंध है? सूदखोर पूंजी किसान समुदाय के विभेदीकरण को त्वरित कर रही है अथवा उसे अवरुद्ध कर रही है? क्या सूदखोर पूंजी का स्वतंत्र विकास हो रहा है? गैर-संस्थागत सूदखोर पूंजी का बुर्जुआ संस्थागत वित्तीय संस्थाओं (ऋण देने वाली संस्थाओं) के मुकाबले प्रभाव घट रहा है अथवा वह पहले की तरह प्रभुत्वकारी बनी हुई है? इन सब प्रश्नों का जवाब ही कृषि में अर्द्ध-सामंती अथवा पूंजीवादी व्यवस्था की बहस को सुलझा सकता है। दुर्भाग्यपूर्ण है कि हमारे तमाम कामरेड या तो इन सवालों को उठाते ही नहीं और यदि उनका जिक्र करते भी हैं तो उनकी गहराई में न जाकर केवल खानापूरी करते हुई कृषि में अर्द्ध-सामंती संबंधों के मौजूद होने का फतवा सुनाने की जल्दी में रहते हैं।

हमारा यह कहना है कि भारतीय कृषि के सन्दर्भ में यदि उपरोक्त प्रश्नों को सही तरीके से उठाया जाए और मामले की मुकम्मल जाँच-पड़ताल की जाए तो भारतीय कृषि में पूंजीवादी विकास की प्रक्रिया बहुत स्पष्ट

देखी जा सकती है। उपलब्ध तथ्य भी इसकी गवाही देते नजर आते हैं।

ग्रामीण परिवारों की ऋणग्रस्तता के बारे कुछ सैद्धान्तिक बातों को स्थापित करने के बाद, आइए, हम भारत में ग्रामीण ऋणग्रस्तता पर नजर डालें। 1961 से 1991 तक के तीन दशकों में ग्रामीण परिवारों पर कुल ऋण में संस्थागत ऋण का हिस्सा बढ़ता गया है।

सारणी 10 : किसान परिवारों पर कुल देय धनराशि का देनदाता ऐजेन्सी के अनुसार प्रतिशत वितरण (केवल ग्रामीण)

	देनदाता ऐजेन्सी	1971	1981	1991
1.	सरकारी वगैरह	7.1	3.9	5.7
2.	कोऑपरेटिव सोसायटी	22.0	29.9	23.6
3.	वाणिज्यिक बैंक वगैरह	2.4	28.9	35.2
4.	इन्श्योरेंस	0.1	0.3	0.2
5.	प्राविडेन्ट फण्ड	0.1	0.2	0.5
6.	**कुल संस्थागत एजेंसी**	**31.7**	**63.2**	**66.3**
7.	भूस्वामी	8.1	3.6	3.7
8.	कृषक ऋणदाता	23.0	8.3	6.8
9.	पेशेवर ऋणदाता	13.1	7.8	10.7
10.	व्यापारी	8.4	3.2	2.2
11.	रिश्तेदार व मित्र	13.1	8.7	4.6
12.	अन्य	2.6	5.2	2.6
13.	कुल गैर संस्थागत	**68.3**	**36.8**	**30.6**
	सभी एजेंसियां	**100.0**	**100.0**	**100.0**

[स्रोत: NSS 48th round, Report No. 420]

NSS द्वारा प्रस्तुत अनुमान अपनी कहानी खुद ही कह रहे हैं। यह बिलकुल स्पष्ट है कि केवल कृषकों के मामले में ही नहीं बल्कि गैर-कृषकों के मामले में भी संस्थागत ऋणों का हिस्सा लगभग दो तिहाई तक पहुँच गया है। स्वाभाविक है कि इस दौर में इसने ग्रामीण इलाकों में निजी/व्यक्तिगत सूदखोरी को जड़ से उखाड़ कर तो नहीं फैंका लेकिन उसे काफी कमजोर अवश्य किया होगा। कुछ साथी NSS के अनुमानों को ठीक नहीं मानते। उनके अनुसार इन अनुमानों में संस्थागत ऋण के हिस्से को यथार्थ से बढ़ाकर दिखाया गया है। उनके इस विचार पर फिलहाल टिप्पणी न करते हुए यदि हम उनकी बात सही मान भी लें तो भी एक प्रवृत्ति के रूप में संस्थागत ऋण की मात्रा व कुल ग्रामीण ऋण में संस्थागत ऋण के हिस्से के 1961-1991 के बीच बढ़ने से कोई इंकार नहीं कर सकता और इस वृद्धि के अपने निहितार्थ हैं जिनको समझा जाना चाहिए। यहीं यदि यह भी ध्यान में रखा जाए कि संस्थागत ऋणदाता ज्यादातर उत्पादक कार्यों के लिए ऋण देते हैं और इनके ऋण नकद में ही दिए व वसूले जाते हैं तो हम ग्रामीण इलाकों में उत्पादक कार्यों में हो रहे पूंजी निवेश व ग्रामीण परिवारों की बाजार पर निर्भरता का आंकलन कर सकते हैं। कुछ साथी यह भी तर्क देते हुए मिल जाते हैं कि संस्थागत ऋणदाताओं से लिए गए ऋण दरअसल उन उत्पादक कार्यों, जिनके लिए ये कर्जे दिए जाते हैं, पर खर्च करने की जगह निजी आवश्यकताओं के अनुसार अनुपादक कार्यों के लिए खर्च कर दिए जाते हैं। यदि यह बात संस्थागत ऋणों के एक हिस्से (मसलन 10 या 20%) के लिए कही जा रही है तो हमें कोई आपत्ति नहीं है। क्योंकि शेष धनराशि, जो कि एक खासी बड़ी धनराशि होती है, के भी उत्पादक कार्यों में खर्च होने का अर्थ है कि यह कृषि में पूंजी निवेश का रूप ले रहा है। यदि कोई यह कहता है कि समग्र संस्थागत ऋण अपने उद्देश्य के मद में खर्च नहीं किया जाता और निजी अनुत्पादक कार्यों में खर्च कर दिया जाता है, तो यह तर्क वास्तविकता से परे लगता है। यदि हम, तर्क के स्तर पर ही सही, पल भर के लिए यह मान भी लें कि समग्र संस्थागत ऋण कृषि में पूंजी निवेश के रूप में न लगाकर अन्य कार्यों में लग जाता है तो फिर ऐसे तर्क देने वाले साथियों से हमारा प्रश्न होगा: भारतीय कृषि में प्रयुक्त होने वाली मशीनरी - ट्रैक्टर, ट्रॉली, पम्प, थ्रेसर, हारवेस्टर वगैरह - के लिए पूंजी कहां से आ रही है? यदि इसे खरीददार बिना संस्थागत ऋण का प्रयोग किये स्वयं ही यह धन जुटा ले रहे हैं तो कृषि में पूंजीवादी विकास का इससे ज्यादा बढ़िया लक्षण और क्या होगा? खैर! प्रथमतः तो यह तर्क ही गलत है और फिर कर्ज लेने के बाद कर्ज को ब्याज सहित चुकाना भी होता है। यह काम कर्जदार बाजार से जुड़कर ही कर सकता है, चाहे वह माल उत्पादक के रूप में बाजार से जुड़े अथवा उजरती मजदूर के रूप में। बाजार से कटे हुए ग्रामीण परिवार नकद ऋण लेकर क्या करेंगे और फिर

ऋण-अदायगी के लिए उनके पास नकद बाजार के सिवा और कहाँ से आएगा? जाहिर है ऊपर दोनों प्रश्नों के जवाब हमें बाजार और पूंजीवादी उत्पादन की मौजूदगी और उनके विकास की ओर इंगित करते दिखाई देंगे। इन प्रश्नों पर भारत के ग्रामीण इलाकों में ऋणग्रस्तता को अर्द्ध-सामंती लक्षण के रूप में पेश करने वाले साथियों को विचार करना चाहिए।

सारणी 9 का और विस्तारित रूप में अध्ययन करने से हमारे समक्ष ग्रामीण ऋणाग्रस्तता का चरित्र और स्पष्ट हो जाएगा। आइए, इसके लिए सारणी 10 पर नजर डालें।

इस सारणी में भूस्वामी द्वारा अपने ही किरायेदार (tenent) को दिये गए ऋण को 'भूस्वामी' शीर्षक में दिया गया है। 'कृषक ऋणदाता' (agriculturist moneylender) वह है जिसका मुख्य पेशा कृषि है और ऋण देना उसका गौड़ पेशा है। 'पेशे ऋणदाता' (professional moneylender) वह व्यक्ति है जिसकी आमदनी का बहुलांश उसके ऋण देने व्यवसाय से आता है। 'रिश्तेदार व मित्र' (relatives & friends) ऐसे ऋणदाता हैं जिनके द्वारा बिना ब्याज ऋण दिया गया है। उपरोक्त सारिणी से यह समझा जा सकता है कि 1991 में 'भूस्वामी' ऋणदाताओं, जिन द्वारा सामंती/अर्द्धसामंती शोषण की संभावना अधिकतम होती है, द्वारा दिये गए ऋण की मात्रा कुल ऋणों मात्रा का मात्र 3.7% रह गया है। 'कृषक' ऋणदाताओं का कुल दिये गए ग्रामीण ऋण में हिस्सा 1991 में 8% रह गया है। यहाँ ध्यान देने वाली बात यह है कि 'कृषक' ऋणदाता मूलतः एक स्वयं की खेती करने वा होता है और इसके द्वारा कर्ज लेने वाला इसका किरायेदार (tenent) नहीं होता है। इसीलिए यह ऋण अ चरित्र में शोषणकारी तो होता है लेकिन ज्यादातर मामलों में अपने कर्ज में दबे लोगों को भूमि से वैसे नहीं ता जैसे कि 'भूस्वामी' बांध सकता है। सामंती/अर्द्धसामंती समाज में सूदखोरी करने वाले वर्ग भूस्वामी, पेशे सूदखोर व व्यापारी होते थे। इस प्रकार के ऋणदाताओं का हिस्सा किसानों पर कुल ऋण मात्र 16.6% रह ग है। यानी जिस प्रकार के सूदखोरों को हमारे साथी अर्द्ध-सामंती चरित्र का सूदखोर कहते हैं, उनका किसानों ऋण किसानों पर कुल ऋण का एक बहुत छोटा हिस्सा रह गया है। हालांकि यहां हम यह याद दिलाना चा कि सूदखोरी का चरित्र पूरे ग्रामीण इलाके के समग्र चरित्र से निर्धारित होता है, केवल इस बात से नहीं कर्जदाता 'भूस्वामी', 'पेशेवर सूदखोर' या 'व्यापारी' है। ग्रामीण इलाकों में पूंजीवादी उत्पादन संबंधों के स्था हो जाने के बाद ऐसे सूदखोर पूर्णतः गायब नहीं हो जाते। हाँ, उनकी पकड़ कमजोर हो जाती है और वे क देने के बावजूद अपने कर्जदारों पर उस प्रकार का गैर-आर्थिक दबाव नहीं बना सकते, जैसा कि अर्द्ध-साम जमाने में बनाया जाता है। भारत के ग्रामीण इलाकों में भी यह बात लागू होती है।

सारणी 11 : 31.6.1991 को पारिवारिक संपत्ति धारक वर्ग (household asset holding class) के अनुसार संस्थागत व गैर-संस्थागत कार्जदाता ऐजेन्सियों के कर्जदार ग्रामीण परिवारों का प्रतिशत

संपत्तिधारक वर्ग	कर्जदार परिवारों का प्रतिशत		
(हजार रूपयों में)	संस्थागत	गैर संस्थागत	कोई
5 से कम	5.3	7.4	11.8
5-10	9.8	10.3	19.9
10-20	10.7	10.8	20.3
20-30	15.5	9.5	24.1
30-50	15.3	11.0	24.5
50-70	15.8	10.1	23.9
70-100	16.8	9.6	24.0
100-150	19.4	11.2	26.9
150-250	20.2	8.8	25.6
250 से ऊपर	25.5	7.9	29.7
सभी वर्ग	15.6	9.8	23.4

[NSS 48th round, Report No. 420]

अब हम जरा संपत्ति के आधार पर ग्रामीण परिवारों का वर्गीकरण करके उसके लिये संस्थागत गैर-संस्थागत ऋणों पर नजर डालें। सारणी 11 में हम देख सकते हैं कि 31 जून 1991 को जब राष्ट्रीय न सर्वेक्षण संगठन (National Sample Survey Organisation) के सर्वेक्षकों ने ग्रामीण भारत के परिवारों पूछताछ की तो उन्होंने पाया कि कुल ग्रामीण भारत के परिवारों में से 23.4% परिवार ऋणग्रस्त थे। कुल ग्राम

परिवारों में से 15.6% जहां संस्थागत स्रोतों के कर्जदार थे वहीं 9.8% गैर-संस्थागत स्रोतों के कर्जदार थे। सारिणी 11 से यह भी स्पष्ट होता है कि ग्रामीण क्षेत्र में गरीब ऋणग्रस्त परिवारों में ज्यादातर परिवार गैर-संस्थागत ऋणदाताओं से ऋण लेते हैं और संस्थागत ऋण उनके लिए कम सुलभ है। जैसे-जैसे हम ज्यादा संपत्ति रखने वाले वर्गों की ओर बढ़ते हैं, वैसे-वैसे गैर-संस्थागत ऋणदाताओं के ऋणी परिवारों का प्रतिशत संस्थागत ऋणदाताओं के ऋणी परिवारों के प्रतिशत से कम होता जाता है। यह स्वाभाविक ही है क्योंकि गरीब परिवारों को अमीर परिवारों के मुकाबले उत्पादक कार्यों के लिए कम और पारिवारिक कार्यों (अनुत्पादक) के लिये अधिक कर्ज लेना पड़ता है। चूंकि संस्थागत ऋणदाता उत्पादक कार्यों के लिये ही ऋण देने में ज्यादा रूचि दिखाते हैं, इसलिए गरीब परिवारों के मुकाबले अमीर परिवारों का ज्यादा बड़ा हिस्सा संस्थागत ऋण लेता हुआ दिखाई देता है। सारणी कुछ और महत्वपूर्ण सच्चाइयों की ओर भी इशारा करती है। एक तो यह कि सबसे कम सम्पत्ति रखने वाले परिवारों के वर्ग (5000 रूपये से कम) में जहाँ 11.8% परिवार कर्ज में थे, वहीं यह प्रतिशत संपत्ति बढ़ने के साथ-साथ बढ़ता जाता है और 2.50 लाख से ज्यादा संपत्ति रखने वाले परिवारों के वर्ग में 29.7% तक पहुँच जाता है। यानी कर्ज लेने की प्रवृत्ति, संपत्ति बढ़ने के साथ-साथ बढ़ती जा रही है। हमारे साथियों को इस पर विचार करना चाहिए कि क्या यह ग्रामीण क्षेत्र के अमीर परिवारों में पूंजी निवेश के प्रति बढ़ते रूझान को नहीं दिखाता? यदि नहीं, तो भारत के गांवों में सबसे अमीर परिवारों के वर्ग में करीब 30% (ठीक-ठीक 29.7%) किस लिये कर्ज लेते हैं, यह बात भारत के ग्रामीण इलाकों में पूंजीवादी उत्पादन संबंधों के विकास को नकारने वाले साथियों को सपष्ट करनी चाहिये। यहाँ उन्हें यह बात ध्यान रखनी चाहिये कि सबसे ज्यादा संपत्ति रखने वाले परिवारों में से 25.5% ने संस्थागत ऋणदाताओं से ऋण ले रखे हैं। इन ऋणों का बड़ा हिस्सा उत्पादक कार्यों के लिये दिया जाता है। जहां तक हमारी बात है, हमारी नजर में यह भारत के ग्रामीण इलाकों में पूंजीवादी उत्पादन संबंधों की मौजूदगी का लक्षण है जहाँ ग्रामीण अमीर पूंजी निवेश करने मे रूचि दिखा रहे हैं और इस पूंजी निवेश के लिये संस्थागत ऋण का बड़े पैमाने पर सहारा ले रहे हैं। ग्रामीण अमीरों द्वारा पूंजी निवेश, उनके द्वारा किये जा रहे ग्रामीण गरीबों के शोषण को दिखाता है। लेकिन यह शोषण अपने चरित्र में पूंजीवादी शोषण है, अर्द्ध-सामंती नहीं।

सारणी-12 यह दिखाती है कि गांव के गरीबों में ऋणग्रस्तता की समस्या वास्तव में बहुत गंभीर है। 5 हजार रूपयों से कम संपत्ति वाले परिवारों के वर्ग में औसत कर्ज, इस वर्ग के परिवारों की औसत संपत्ति का 14.09 गुना है यानि 2,495 रूपये की औसत संपत्ति रखने वाले इस वर्ग के परिवारों पर 35,100 रूपये का औसत कर्ज है। स्थिति वास्तव में भयावह है, इससे कोई इंकार नहीं कर सकता है। लेकिन समस्या यह है कि इस ऋणग्रस्तता को हमारे साथी ग्रामीण भारत में अर्द्ध-सामंती संबंधों की प्रभुत्वकारी भूमिका की मौजूदगी के रूप में पेश करते हैं। आईये, देखें सारणी-12 क्या दिखाती है। संपत्ति बढ़ने के साथ-साथ ग्रामीण परिवारों पर औसत कर्ज की मात्रा बढ़ती जाती है। गांवों के अमीर, संस्थागत व गैर-संस्थागत, दोनों ही स्रोतों से गांव के गरीब परिवारों के मुकाबले अधिक मात्रा में कर्ज लेते हैं। सबसे गरीब परिवारों (5000 से कम संपत्ति वाले) पर जहाँ औसतन कुल कर्ज 35,100 रूपये का है वहीं सबसे अमीर परिवारों (2.5 लाख से अधिक संपत्ति) ने भी औसतन 6,64,700 रूपयों का कर्ज ले रखा है। गैर संस्थागत स्रोतों ने भी जहाँ सबसे निचले वर्ग के परिवारों को औसतन 20,100 रूपयों का कर्ज दे रखा है वहीं सबसे ऊपरी वर्ग के परिवारों को उन्होंने औसतन 122,200 रूपयों का कर्ज दिया हुआ है। इससे दो बातें उभरती हैं। पहली तो यही कि गैर-संस्थागत ऋण केवल गांव के गरीबों के अर्द्ध-सामंती शोषण का ही प्रतीक नहीं है, जैसा कि भारत को अर्द्ध-सामंती मानने वाले हमारे कई साथी सोचते हैं। ग्रामीण क्षेत्रों के अमीर भी गैर-संस्थागत ऋण लेते हैं और काफी महत्वपूर्ण मात्रा में लेते हैं। यह आंकड़ों से ही स्पष्ट है। अब ग्रामीण इलाकों के सबसे अमीर वर्गों का तो ऋण के जरिये अर्द्ध-सामंती शोषण किया नहीं जा सकता। इन परिवारों द्वारा लिये गये ऋण का अधिकांश हिस्सा उत्पादक कार्यों के लिये खर्च किया जाता है। इस वर्ग के परिवारों द्वारा लिये गये 6 लाख 24 हजार रूपये के औसत कर्ज में 5 लाख 34 हजार रूपये (80.4%) संस्थागत व 1 लाख 22 हजार रूपये (18.4%) गैर-संस्थागत ऋण के रूप में लिये गए हैं। जाहिर है कि इतने बड़े पैमाने पर संस्थागत ऋण (जो कि बहुधा उत्पादक कार्यों के लिए मिलता है) लेने वाले वर्ग के

परिवार जब कुल ऋण का 18.4% गैर-संस्थागत ऋण के रूप में लेते हैं तो वह भी संस्थागत ऋण के पूरक का ही क करेगा। यहाँ गैर-संस्थागत ऋण का चरित्र अर्द्ध-सामंती नहीं रह जाता। वह उत्पादक पूंजी के रूप में तब्दील हो जाता वह कृषि में पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली के विकास का, पूंजीवादी उत्पादन संबंधों की स्थापना की प्रक्रिया का अंग बन जा है।

सारणी-12 : 31.6.1991 को पारिवारिक संपत्तिधारक वर्ग (household asset holding class) के अनुसार कर्ज की औसत मात्रा (average amount of debt) और कर्ज-संपत्ति अनुपात (debt-asset ratio)

संपत्तिधारक वर्ग (हजार रूपयों में)	संपत्ति का औसत मूल्य (रूपयों में)	कर्ज की औसत मात्रा (सौ रूपये में)			कर्ज-संपत्ति अनुपात		
		संस्थागत	गैर संस्थागत	सभी	संस्थागत	गैर संस्थागत	सभी
5 से कम	2,495	148	201	351	5.93	8.06	14.09
5 - 10	7,554	303	346	677	4.01	4.58	8.97
10 - 20	14,649	357	460	886	2.44	3.14	6.05
20 - 30	24,730	615	284	951	2.49	1.15	3.84
30 - 50	39,364	678	548	1,261	1.72	1.39	3.20
50 - 70	59,342	897	779	1,724	1.51	1.31	2.91
70 - 100	83,945	960	619	1,656	1.14	0.74	1.97
100 - 150	122,384	1,374	887	2,390	1.12	0.72	1.95
150 - 250	192,459	1,643	790	2,532	0.85	0.41	1.32
250 से ऊपर	544,091	5,344	1,223	6,647	0.98	0.22	1.22
सभी वर्ग	107,007	1,221	624	1,906	1.14	0.58	1.78

नोटः संस्थागत व गैर संस्थागत कर्ज की मात्रा का जोड़ "सभी" कर्जों से ठीक-ठीक नहीं मिलता क्योंकि कुछ कर्जों के लिए कर्जदाता नहीं बताये गए थे।

[स्रोतः NSS 48th round, Report No. 420

वैसे भी ग्रामीण ऋण में गैर संस्थागत ऋण के हिस्से बड़े होने व ग्रामीण इलाकों में बड़े पैमाने पर सूदखोरों/कमीशन एजेण्टों द्वारा ऊँची ब्याज दरों पर कर्जे दिये जाने की बातें जो साथी करते हैं, वे भी इससे इंकार नही कर पाते कि गैर-संस्थागत ऋण का एक अच्छा-खासा हिस्सा कृषि में कार्यकारी पूंजी (working capital) के रूप में आवश्यक धन के लिये किसानों द्वारा सूदखोरों से लिया जा रहा है। यह तो गैर-संस्थागत ऋण का पूंजी के रूप में प्रयोग ही हुआ। इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि कर्जदार अपने उद्यम से धन कमाकर ऋण दाता को चुका देता है अथवा वह ऋण के जाल में फंस कर अपनी जमीन से भी हाथ धो बैठता है। पहले वाले मामले में कर्जदार पूंजी निवेश के कार्य को सफलतापूर्वक अंजाम देकर ग्रामीण बुर्जुआ बनने की ओर आगे बढ़ेगा तो दूसरे मामले में वह अपनी रही सही पूंजी को भी गंवा कर सर्वहारा कतारों में शामिल होने की ओर बढ़ेगा। ये दोनों मामले किसानों के विभेदीकरण की प्रक्रिया को ही आगे बढ़ाएंगे, जो कि पूंजीवादी विकास को ही अभिव्यक्त करेगा।

V

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि कृषि में पूंजीवादी विकास की प्रक्रिया व रूप के बारे में हमारे देश के क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट आन्दोलन में कई विभ्रम मौजूद हैं। इन विभ्रमों के कारण ही आन्दोलन के तमाम साथियों को भारतीय कृषि में पूंजीवाद का विकास दिखाई नहीं देता। दरअसल इन साथियों के दिमाग में कृषि में पूंजीवादी विकास का एक निश्चित खाका है। चूंकि उस खाके के अनुसार ही पूंजीवाद का विकास कृषि में होता नहीं नज़र नहीं आता है, इसलिए वे कृषि में पूंजीवादी विकास से इंकार करते हैं। दरअसल, इन साथियों के पूंजीवादी विकास के काल्पनिक खाके में कई सैद्धान्तिक गलतियां तो हैं ही, साथ ही उनके विश्लेषण की प्रणाली में भी कई खामियां हैं जिसके कारण उन्हें भारतीय कृषि में पूंजीवादी विकास नजर नहीं आता है। ऐसे कुछ बिन्दुओं को हम निम्नवत् सूत्रबद्ध कर सकते हैं:

(i) कृषि में पूंजीवाद का विकास कृषि में श्रम की मांग को घटा देता है। इस प्रक्रिया में जन्म लेने वाली बेकार श्रमिक आबादी चार रूपों में दिखाई देगी। पहला, उसको खत्म कर अतिरिक्त औद्योगिक श्रमिक आबादी शामिल होने वाले हिस्से के रूप में; दूसरा, ग्रामीण गैर-कृषि क्षेत्र में कार्यरत श्रमिक आबादी के रूप में; तीसरा, खेती में ही न्यून से न्यूनतर स्तर की मजदूरी पर कार्य करते रहने वाले गरीब किसानों व खेतिहर श्रमिकों की सरप्लस आबादी के रूप में; व चौथा, ग्रामीण इलाकों में बेरोजगार आबादी के रूप में। इन सभी को मिलाकर ही समग्र रूप में यह समझा जा सकता है कि पूंजीवाद किस हद तक कृषि में बेकार आबादी को जन्म दे रहा है। केवल अद्योकरण इसका समझने में परिचायक नहीं हो सकता। यह संभव है कि कृषि में पूंजीवाद जिस तेजी के साथ विकसित हो रहा हो, उसी तेजी के साथ अद्योकरण न बढ़ रहा हो। ऐसी हालत में सही प्रणाली का तकाजा यही है कि हम दूसरे आयामों पर नजर डालें, न कि कृषि में पूंजीवाद के विकास को ही मात्र इस तथ्य के आधार पर नजरअंदाज कर दें।

(ii) कृषि में भू-लगान (land rent) की मौजूदगी व उसकी मात्रा के बढ़ते जाने से यह साबित नहीं हो जाता कि कृषि में अर्द्ध-सामंती व्यवस्था चल रही है। कृषि में भू-लगान (land rent) अर्द्ध-सामंती व्यवस्था में भी पाई जाती है और पूंजीवादी व्यवस्था में भी। कृषि में पूंजी निवेश में वृद्धि व कृषि के साथ-साथ सामान्य रूप से सभ्यता के विकास के साथ-साथ प्रति एकड़ पर लगान की मात्रा का बढ़ते जाना, कृषि में पूंजीवादी विकास के अनुरूप ही है। सैद्धान्तिक धरातल पर कहा जा सकता है कि जब तक पूंजीवाद है, तब तक कृषि में भू-लगान (land rent) बनी रहेगी। इसलिए हमें मात्र कृषि में भू-लगान (land rent) की मौजूदगी और उसमें होने वाली वृद्धि के आधार पर कृषि के अर्द्ध-सामंती होने का निर्णय सुना देने की बजाय इसकी जांच करनी चाहिये कि इस लगान (rent) का चरित्र क्या है - अर्द्ध-सामंती अथवा पूंजीवादी? हमारी समझ में आज भारत में वसूली जा रही भू-लगान (land rent) का चरित्र मुख्यतः पूंजीवादी है।

(iii) बड़े पैमाने के उत्पादन द्वारा छोटे पैमाने के उत्पादन के विस्थापन की प्रक्रिया और पूंजी के संकेंद्रण की प्रक्रिया, पूंजीवादी विकास की सार्विक विशेषताएं हैं। हालांकि ये प्रक्रियाएं उद्योग और कृषि, दोनों के पूंजीवादी विकास में दिखाई देती हैं, लेकिन कृषि में ये प्रक्रिया ठीक उसी प्रकार नहीं चलती जैसे कि ये उद्योग में। उद्योग में जहां बड़े पैमाने का उत्पादन प्रायशः छोटे पैमाने के उत्पादन को विस्थापित कर देता है, वहीं कृषि में यह प्रक्रिया अत्यधिक धीमी गति से चलती रहती है और यह केवल बड़ी भू-जोतों के मालिकों द्वारा छोटी भू-जोतों के मालिकों की भूमि के अधिग्रहण के रूप में नहीं चलती। इसके बरक्स यह छोटे किसानों की बर्बादी, उनके द्वारा अतिरिक्त करने की मजबूरी, उनके परिवार सहित कृषिकर्म, उनके ऊपर चढ़ी ब्याज, जमींदार के रूप में भी दिखाई देती है।

ठीक इसी प्रकार कृषि में पूंजी के संकेंद्रण की प्रक्रिया को केवल जोतों के क्षेत्रफल (acreage) के आधार पर वर्गीकरण के जरिये नहीं समझा जा सकता। कृषि में बढ़ती गहनता (intensification) कृषि में पूंजी निवेश की सबसे महत्वपूर्ण सार्विक विशेषता है और जोतों का क्षेत्रफल के आधार पर वर्गीकरण ठीक इसी बात को यानी पूंजी निवेश के कारण कृषि में बढ़ रही गहनता को नजरअंदाज कर देता है। इसलिये कृषि में पूंजी के संकेंद्रण की प्रक्रिया को ठीक-ठीक समझने के लिए जोतों के क्षेत्रफल के आधार पर वर्गीकरण के बजाय जोतों के उत्पाद के मूल्य के आधार पर वर्गीकरण कहीं ज्यादा उपयुक्त है और इस संदर्भ में उसी का प्रयोग करना चाहिये।

(iv) कृषि में सूदखोर पूंजी (usurious capital) की मौजूदगी मात्र से कृषि में अर्द्ध-सामंतवाद साबित नहीं हो जाता। कृषि में पूंजीवादी विकास के शुरुआती दौर में न केवल सूदखोर पूंजी मौजूद रहती है बल्कि वह कृषि में पूंजीवादी विकास की आवश्यक पूर्व शर्त (premise) भी है। इसलिए केवल सूदखोरी की भारतीय कृषि में व्यापक पैमाने पर मौजूदगी और उसके अमानवीय-शोषक चरित्र के बारे में बातों तक सीमित रहने के बजाय हमें यह देखना चाहिये कि यह सूदखोर पूंजी किसानों के विभेदीकरण को तेज कर रही है या उसे अवरुद्ध कर रही है। साथ ही यह भी कि सूदखोर पूंजी का स्वतंत्र विकास हो रहा है अथवा यह औद्योगिक (industrial) पूंजी के साथ-साथ काम कर रही है। यदि कुल मिलाकर समझना में सूदखोर पूंजी का विकास स्वतंत्र रूप से नहीं हो रहा है बल्कि यह औद्योगिक पूंजी के साथ संबद्ध है और साथ ही यह कृषि में किसानों के विभेदीकरण की प्रक्रिया को तेज कर रही है, तो यह कृषि में पूंजीवाद की मौजूदगी की अभिव्यक्ति है। ■